DUP 178 5-2002 20,000

ARTS LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY SYSTEM

Cl No A25x1:1 15269

Ac No 27399

This book should be returned on or before the date last stamped below An overdue charge of Re 1 will be charged for each day the book is kept overtime

(Authority E C Res 200 dated 27th August 1996)

आर्यविद्याग्रन्थावलिका द्वितीय ग्रन्थ

नारदभक्तिसूत्र

लेखक

विद्याभास्कर श्री रामावतारशास्त्री वेदान्ततीर्थ मीमांसारत्न

जागतजी [illegible], ईश्वरभक्ति, आर्यसंस्कृतिका विचारस्रोत, समाजवाद,
ग्राम [illegible] नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, शिक्षकोंका मार्गदर्शक, बाल-
बालप्रश्नोत्तरी, जीवनसूत्र, सत्य और अहिं-
भारतीय स्वतंत्रता, भगवद्गीताके जन्मदाता
सिद्धान्त, आदि ग्रन्थोंके लेखक तथा
गीतापरिशीलन, पंचदशी, बोधसार
आदि अनेक ग्रन्थोंके
व्याख्याकार

प्रथमवार १००० | १९९६ विक्रमी १९३९ ई० | मूल्य १४ आना

प्रकाशक—

श्री. मोतीलाल माणकचंद ऊर्फ प्रतापसेठ

अध्यक्ष—'तत्त्वज्ञानमंदिर'

अमळनेर (जि. पूर्वखानदेश)

(सर्वाधिकार प्रकाशकने अपने अधीन रखे हैं)

मुद्रक—

विठ्ठल हरि बर्वे

आर्यभूषण प्रेस, ९१५।१ भांबुर्डा पेठ, पूना

विज्ञापन

(**भगवद्गीता** तथा **नारदभक्तिसूत्रोंके** नवीन शैलीके भाष्य)

गीतापरिशीलन : भगवद्गीताका अद्वैत सिद्धान्तको व्यावहारिक रूपमें जनताके समक्ष रखनेवाला, गीताके प्रचलित भाष्योंसे प्रायः प्रत्येक श्लोकमें महत्त्वपूर्ण नवीनता रखनेवाला, ज्ञानमार्ग तथा कर्मयोग मार्गोंको अभिन्न बतानेवाला, कर्महीन ज्ञानमार्गको अस्वीकार करनेवाला, भक्ति तथा ज्ञानकी एकताको स्थापित करनेवाला, सत्यको गीतानुसार प्रवाहित न करके गीताको सत्यानुकूल प्रवाहित करनेवाला, संपूर्ण गीताकी एकवाक्यताका पूरा ध्यान रखनेवाला, (१) भूमिका (२) श्लोकानुसार विषयसूची (३) अध्यायार्थसूची (४) श्लोक (५) अन्वय (६) भाषार्थ (७) भाव (८) गीताके महत्त्वपूर्ण मन्तव्योंपर ३२ प्रकरणोंवाले परिशिष्टके रूपमें स्वतंत्रविचार तथा (९) शब्दकोश इन अनेक रूपोंमें गीताकी व्याख्या करनेवाला, श्लोकोंकी अकारादि वर्णानुक्रम सूचीवाला अपने ढंगका सुचिन्तित नवीन भाष्य ।

मूल्य ३ रु. ८ आना । डाकव्यय १३ आना ।

नारदभक्तिसूत्र : भक्तिको व्यावहारिक ज्ञानके रूपमें दिखानेवाला, अद्वैतनिष्ठा भक्ति तथा मनुष्यके व्यावहारिक जीवनका एकीभाव दिखानेवाला, भक्तिविषयपर हृदयग्राही सर्वथा नवीन शैलीसे विचार करनेवाला भाष्य ।

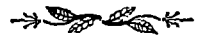
मूल्य १४ आना । डाकव्यय ७ आना ।

दोनों पुस्तकों साथ लेनेसे । **डाकव्यय १४ आना ।**

पुस्तक मिलनेके दो पते:—(१) प्रबन्धक, तत्त्वज्ञानमन्दिर,
अमलनेर, जि. पूर्व खानदेश.
(२) संचालक, बुद्धिसेवाश्रम,
रतनगढ, जि. बिजनौर (यू.पी.)

[आ. भू. प्रेस, पुणें.]

प्रकाशकका वक्तव्य



आज हम नारदभक्तिसूत्रोंके इस अद्वैतसिद्धान्तमूलक भाष्यको विचारशील जनताके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। इस भाष्यमें अद्वैतवाद को सर्वथा नवीन शैलीसे व्यावहारिक रूपमें प्रतिपादित किया गया है। इसमें अद्वैतनिष्ठा, भक्ति तथा मनुष्यके व्यावहारिक जीवनका एकीभाव दिखाया गया है। यही इस भाष्यकी विशेषता है। इस भाष्यसे जनताको भक्ति विषयपर सर्वथा नवीन शैलीसे विचार करनेका अवसर प्राप्त होगा।

विचारस्वातन्त्र्य मनुष्यका स्वाभाविक अधिकार है। जब इसके भाष्यकार पं. रामावतार विद्याभास्करजीने संस्थाके पास जनताके इस अधिकारको जनतातक पहुंचा देनेकी प्रेरणा भेजी और जब उक्त पण्डितजीको बुलाकर प्रत्यक्ष बातचीतके द्वारा उनके विचारोंको विचारणीय पाया गया तब उन्हें जनतातक पहुंचा देनेकी इच्छा हुई।

संस्थामें योरोपिय तत्त्ववेत्ताओंके मन्तव्योंपर तुलनात्मक विचार करनेका सिद्धान्त स्वीकृत है, उसीके समान भक्ति तथा अद्वैतवादके संबन्धमें इन नवीन मन्तव्योंपर तुलनात्मक विचार करनेके लिये उन्हें जनतातक पहुंचानेकी इच्छासे इनके प्रकाशनका अवसर आगया। हम चाहते हैं कि समाज इस नवीन शैलीपर भलेप्रकार तुलनात्मक विचार करके अपना मन्तव्य निश्चित करे।

परन्तु कोई भी महानुभाव इस प्रकाशनका यह अभिप्राय न लगाये कि 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' ने विद्याभास्कर महाशयके मतानुसार अपना मत परिवर्तित कर डाला। हम केवल औचित्यके प्रकाशमें इन मन्तव्योंपर विचार किया जाना चाहते हैं।

जो विचारक महानुभाव इस भाष्यपर व्यक्तिगत आक्रमणहीन समालोचनात्मक निबन्ध गंभीरतासे लिखकर भेजेंगे, संस्था उनके योग्य निबन्धको प्रकाशित करके समाजके समक्ष उपस्थित करना अपना कर्तव्य मानेगी।

इन विचारोंमें भगवान् शंकराचार्यजीके जिन सिद्धान्तोंका विरोध हुआ है उसका उचित खण्डन करनेवाले ग्रन्थको भी संस्था अवश्य प्रकाशित करेगी।

प्रकाशक

नारदभक्तिसूत्रों

का

व्याख्याप्रसंग

मनुष्यदेह अपने साथ गंभीर उत्तरदायित्व लाया है। इस उत्तरदायित्वको पूरा करना ही 'ईश्वर भक्ति' है। मनुष्यके स्वभावमें एक 'तपस्या' घुसी हुई है, जो इसे सदा उत्थानकी प्रेरणा देती और पतित होनेके समय अपना विरोध सामने रखकर इसे टोकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वभावसे 'योग-योनि' है; वह 'भोग-योनि' नहीं है।

यद्यपि मनुष्यदेहमें भी दूसरे प्राणियोंके समान 'भोगाभिलाषा' रहती है। परन्तु मनुष्यका मन इस ढंगका बना हुआ है, कि इस भोगाभिलाषाको पूर्ण करनेपर उसे सदा अशान्ति ही मिलती है। मनुष्यके मनमें 'भोग' और 'अशान्ति' नित्य साथ साथ रहते हैं। यह 'अशान्ति' सिद्ध करती है कि भोग मनुष्यदेहका प्रयोजन नहीं है। अर्थात् मनुष्यको भोगका अधिकार नहीं है। 'शरीरकी भोगाभिलाषा' और 'मनकी भोगसे अशान्ति' इन दोनोंके साथ साथ रहनेसे मनुष्यके सामने 'भोग-मार्ग' को अपनाने या 'त्यागने' का प्रश्न सदा उपस्थित रहता है। 'भोग' या 'त्याग' दोनोंमेंसे किसी एकको अपनानेमें स्वतंत्र होना ही 'मनुष्यके मनका स्वरूप' है, और यही 'मनुष्यकी दूसरे प्राणियोंसे विशेषता' है। इस 'स्वतंत्रता' का सदुपयोग करनेवाला मनुष्य 'मनुष्य' बना रहता है, तथा इसका दुरुपयोग करनेवाला मनुष्य 'मनुष्यतासे पतित' हो जाता है। मनुष्य इस स्वतंत्रताका दुरुपयोग करते ही 'अशान्त' हो जाता है। जो अपनी स्वतंत्रताका सदुपयोग करनेमें असमर्थ रह जाता है, उसे 'अन्तस्ताप' सताने लगता है। इस 'सन्ताप' को मिटादेना ही 'शान्ति' है। क्योंकि जीवनमें शान्तिधाराका अखण्डप्रवाह ही 'मनुष्यजीवनकी सफलता' है; इस लिये विचारशील मनुष्य 'भोगत्याग'में 'शान्ति' देखकर 'त्याग' के मार्गको अपनाते और 'भोग' के मार्गको त्यागदेते हैं। यही उनकी 'ईश्वर भक्ति' या 'स्वरूप भक्ति' कहाती है। मनुष्यका जीवन अपने साथ

जिस उत्तरदायित्वपूर्ण प्रश्नको लेकर आया है उसका सदुत्तर ही 'भक्ति' कहाती है।

मनुष्यकी इन्द्रियां उसके मनको आठोंपहर भोगोंका निमन्त्रण देती रहती हैं। सच्चे मनुष्योंको आठोंपहर इस आकर्षणका प्रतिकार करना पड़ता है। उन्होंने इस आकर्षणका जो प्रतिकार निकाला है, वही भक्ति है। उन्होंने अनासक्तिको ही इस आकर्षणका प्रतिकार पाया है। इसलिये विकार-रहित अनासक्त मानसिक अवस्था ही 'भक्ति' नाम पा लेती है। इन्द्रिय-जन्य तुच्छ आनन्दमें मस्त हो जाना मानवजीवनको 'पशुजीवन' बना डालना है। इन्द्रियजन्य आनन्दकी उपेक्षा करके 'भक्ति' का विमल आनन्द लेनेमें ही मनुष्यजीवनकी सफलता है। आठोंप्रहर चलनेवाले आकर्षणके प्रतिकारको भी आठोंप्रहर उपस्थित रहना पड़ता है। भक्तोंके मनमें आठोंप्रहर रहनेवाली यह अनासक्त अवस्था 'समाधि' या 'भक्ति' है। जो कुछ करो सब अनासक्त अवस्थामें रहकर करो यही आठोंप्रहरकी या जीवनभरकी समाधि या 'भक्ति' कहाती है।

अनासक्त रहनेमें ही मनुष्यका स्वरूप सुरक्षित रहता है। यह अनासक्ति ही मनुष्यका ईश्वर है। ईश्वर शब्द 'सामर्थ्य' का वाचक है। असामर्थ्यका विरोध करनेवाली शक्ति 'सामर्थ्य' कहाती है। काम क्रोध आदिके वशमें हो जाना मनुष्यको मनुष्यताके सिंहासनसे नीचे पटकदेनेवाला 'असामर्थ्य' है। इस असामर्थ्यका विरोध करनेके लिये जिस 'शक्ति'की आवश्यकता है वही 'समर्थ' या 'मनुष्यका ईश्वर' है। जब किसी मनुष्यके मानससे इस असामर्थ्यका विरोध करनेके लिये सामर्थ्यरूपी पुण्यसलिला भागीरथी बह निकलती है, तब उस सामर्थ्यप्रवाहको 'ईश्वरभक्ति' कहा जाता है। अनासक्ति ही मानवीय निर्बलताओंका विरोध करनेवाला 'बल' या 'ईश्वर' है। संसारमें आजतक जितनी सुंदर पवित्र घटना हुई हैं वे सब अनासक्तिकी घटना हैं। संसारमें अनासक्तिसे भिन्न कुछ भी सुहावना तथा जगमंगलकारी तत्त्व नहीं है। अनासक्ति ही 'ईश्वर' है। अनासक्तिसे भिन्न ईश्वरनामकी कोई वस्तु संसारमें नहीं है।

'अनासक्ति' और 'आसक्ति' ये ही दो स्थिति संसारपर शासन कर रही हैं। आसक्ति अनीश्वर अवस्था, नास्तिकता, ईश्वरविमुखता, आसुर-भाव आदि नामोंसे कहाती है। आसक्ति मनुष्यकी पतितावस्था है; क्योंकि

उसमें मनुष्यका मनुष्यता दिखानेका अवसर लुप्त रहता है। अनासक्तिमें ही मनुष्यको अपनी मनुष्यताके कौशलको दिखानेका उदात्त अवसर प्राप्त होता है। संसारने सदा अनासक्तिमें ही शान्तिका मुंह देखा है। अनासक्ति ही ईश्वरभाव, आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, दैवीसंपत्ति आदि नामोंसे स्मरणकी जाती है। ईश्वर शब्द अनासक्तिका ही पर्यायवाची है।

सम्पूर्ण प्राणियोंकी इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये स्वभावसे रागद्वेष पाये जाते हैं। परन्तु मनुष्यके स्वभावमें इन रागद्वेषोंको अपनाने या न अपनानेकी पूर्ण स्वतंत्रता भी है। वह चाहे तो रागद्वेषके मार्गको अपनाकर 'पशुजीवन' बिता सकता है, और चाहे तो अपनेको रागद्वेषसे अतीत रखकर 'मनुष्यतासे सुशोभित' कर सकता है। मनुष्यके मनकी इस स्वतंत्रताने ही संसारके मनुष्योंको 'बुरे' और 'भले' दो भागोंमें बांट दिया है। इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको अपनाना, इन्द्रियोंके बन्धनमें आजाना, इन्द्रियोंका लालन करना, मनुष्यताको खोकर 'बुरा बन जाना' है। यह मनुष्यकी 'अभक्ति' या 'स्वरूप–विस्मृति'की अवस्था है। अपनेको इन्द्रियोंके रागद्वेषसे अप्रभावित रखना 'भक्ति' या 'स्वरूपमें निवास' की या 'भला बनने' की अवस्था है।

विधाताकी यह सृष्टिरचना ही ऐसी है कि इसमें इन्द्रियोंकी खेंचातानीके पीछे शान्तिका अगाध समुद्र रखा गया है। इसमें पद पदपर अशान्तिके साधन हैं, और उन्हींकी ओटमें शान्ति बैठायी गयी है। इस सृष्टिमें ऐसी व्यवस्था की गयी है कि इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले रूपरस आदि विषय प्रत्येक समय प्रत्येकके सामने आते रहें। यदि पुरुष धीर बनकर अशान्तिके इन कारणोंका विरोध या विद्रोह करनेको कटिबद्ध हो जाता है, तो उनके पीछे छिपी हुई शान्ति तुरन्त उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है। जो धीर पुरुष अशान्तिको अपने पास नहीं आने देता वह 'ईश्वरभक्ति' कररहा है। परन्तु जो पुरुष अशान्तिके कारणोंका विद्रोह न करके, उनसे सहमत होकर, भोगबन्धनमें फंसजाता है उसे 'शान्ति' अर्थात् 'भक्ति'की अवस्था प्राप्त नहीं होती। जो अशान्त है वही 'अभक्त' या 'नास्तिक' है।

इन्द्रियातीत (इन्द्रियोंकी भोगाभिलाषारहित), अप्रभावित (भोग्यपदार्थोंसे प्रभावित न होनेवाली) मनोदशा ही 'सच्चे मनुष्योंका आराध्य

भगवान्' है। इसी भगवान्की निरन्तर आराधना 'भक्ति' या 'ईश्वरभक्ति' कहाती है। ज्ञानी मनुष्योंकी अव्यभिचारिणी आत्मनिष्ठा ही 'ईश्वरभक्ति' नाम पा लेती है। मनुष्य भक्तिके इस अभ्रान्तरूपको न समझकर ही 'अपनेसे पृथक् ईश्वर'की कल्पना करता है; और उस 'अप्राप्त ईश्वर'की प्राप्तिके व्यर्थ प्रयत्न करता रहकर 'अशान्त' बना रहता है।

संसारबन्धनमें फंसे रहना और भजन पूजन आदिके द्वारा ईश्वरसे संबन्ध भी जोड़े रहना, इस प्रकारकी निरर्थक चेष्टा 'प्रचलित भक्तिका भ्रान्त-रूप' है। इस भ्रान्त भक्तिमें ईश्वरनामकी कोई प्रार्थना सुननेवाली सत्ता; दया, क्षमा तथा प्यार करनेके लिये उद्यत बैठी हुई मान ली गयी है, और मनुष्यको उससे दया, क्षमा तथा प्यार पानेका अधिकारी समझ लिया गया है। यदि प्रचलित भक्तिके हृदयको स्पष्ट शब्दोंमें खोलकर रखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य इस प्रकारके कल्पित ईश्वरसे अपना मनमाना संबन्ध बनाये रखकर विषयभोग करते रहना चाहता है। अर्थात् वह चाहता है कि 'विष-यभोग'भी करता रहूं और भजन, पूजन, कीर्तन, ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि साधनोंसे 'ईश्वरसे संबन्ध' भी जोड़े रहूं। यद्यपि भक्त होनेके लिये विषयासक्ति त्यागना अत्यावश्यक है, परन्तु इस मनोवृत्तिवाले मनुष्य 'भक्त' होनेके लिये विषयासक्तिको त्यागना अनिवार्य नहीं मानते। वे विषया-सक्तोंको भी भक्तिका अधिकारी मानते हैं। वे ईश्वरसे अपने भोगोंको निष्कंटक बनानेका काम लेना चाहते हैं। यही उनकी 'भक्ति' है। यह भक्ति नहीं है, यह स्पष्टरूपसे 'विषयासक्ति' है। ये अपनेको विषयासक्ति त्यागनेमें असमर्थ मानते हैं, और विश्वास रखते हैं कि जब ईश्वर ही विषयसे मधुर होकर आयगा तब हमारी विषयासक्ति अपने आप छुट जायगी। ये लोग विषयासक्तिको त्यागनेका कार्य स्वयं न करके ईश्वरसे करवाना चाहते हैं। ऐसे लोग विषया-सक्त बने रहकर 'भक्त' होनेका अहंकार भोगना चाहते हैं। ये 'सच्चे भक्त' बनना नहीं चाहते। ये अपनेको केवल 'भक्त' कहलाना चाहते हैं। इनकी 'भक्ति' में से 'ईश्वर' का अनुपस्थित रहना इनके लिए असह्य नहीं है। ऐसी कल्पना करनेवालोंका विश्वास है कि 'ईश्वर' इस प्रकारके भक्तोंकी वचनावलि तथा आत्मनिवेदन सुनकर (१) दयासे द्रवित हो जाता है (२) प्रार्थियोंकी विषयवासना पूरी करता है (३) अपने भक्तोंकी विषया-सक्तिके संपूर्ण अपराध क्षमा करता है (४) और उन्हें पिता, सन्तान, सखा,

यति आदि नाना रूपोंमें दर्शन भी देता है। ऐसे लोग मनमें इसी मिथ्या सन्तोषको लेकर, ईश्वरसे अपना मनमाना संबन्ध जोड़कर, जीवनभर वास्तविक भक्तिसे वंचित रहते हैं।

सच्ची भक्तिमें ये सब बात नहीं हैं। निर्विषय अनासक्तिके अतिरिक्त सच्ची भक्तिका दूसरा कोई रूप नहीं है। यदि मनुष्य अनासक्तिरूपी सच्ची भक्तिको अपनाले तो उसके लिये इस प्रकारकी मिथ्या भक्तिको स्वीकार करना असंभव होजाय। सच्ची भक्तिको अपनालेनेपर न तो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके रागद्वेषके वशमें आसकता है और न विषयभोगरत रह सकता है। 'इन्द्रियासक्ति' और 'भक्ति'में प्रकाश अन्धकारका सा आकाशपातालका महान अन्तर है। प्रचलित भक्तिने 'इन्द्रियासक्ति' और 'भक्ति' का समझौता करनेकी इच्छासे भक्तिका 'भक्तिपना' ही नष्ट करडाला है, और उसे विषयासक्ति जैसी निर्वीर्य स्थिति बना डाला है। इसीको कहते हैं कि संसार अमृतकी बात बनाता है, परन्तु अमृतसे वंचित रहता है। भक्त और भज्यमानकी एकतामें ही 'अमृत' है। इस अमृतका पान करना, ही 'ईश्वर-भक्ति' है। वस्तुतः 'ईश्वर' शब्द मनुष्यके मनकी उदात्त दशाके संबन्धमें प्रयुक्त होता है। 'ईश्वर' शब्द किसी वायव्य, अदृश्य, अकथ्य, अशरीरी सत्ताका वाचक नहीं है। 'भक्त' वह है जो आत्मस्थितिरूपी ईश्वरीय-स्थितिमें दृढ होकर, अदृढतारूपी भोगासक्ति या अनीश्वरभावका विरोध करता है और आत्मानन्दका संभोग करनेमें लगा रहता है। जीवनमेंसे 'भोगासक्तिका बहिष्कार' तथा 'त्यागकी स्थापना' ही 'ईश्वरभक्ति' कहाती है।

'भक्ति' प्रातः, सायं या किसी विशेष नियत समयपर करनेकी वस्तु नहीं है। भक्ति आठों पहर होती है। 'भक्ति' और 'अभक्ति' एकसाथ कभी नहीं बसतीं। भक्त कभी विषयासक्त नहीं हो सकता तथा विषयासक्त मनुष्यका भक्ति करना सर्वथा असंभव घटना है। 'भक्ति' ऐसी ऐनक है, जो दृश्यमान संसारका रंग बदल देती है। जैसे नीली ऐनक लगानेपर सारा संसार नीला दीखने लगता है, इस प्रकार भक्तिरूपी भागवत ऐनक पानेवाले मनुष्यका मन आठों पहर संपूर्ण संसारके सब भूतोंमें 'भगवत्संभोग' करनेका साधन बन जाता है। भक्त मनुष्यका संसारके जिन भूतोंसे संबन्ध पड़ता है, वह उसे साधारण प्राणियोंका संबन्ध नहीं समझता। वह उसी

संबन्धमें कहीं तो ईश्वरदर्शन करता है, कहीं ईश्वरस्पर्श करता है, कहीं ईश्वरश्रवण करता है, कहीं ईश्वरकीर्तन करता है, कहीं ईश्वरको सूंघता है तथा कहीं ईश्वरास्वाद लेने लगता है। भक्तकी भक्ति आठों पहर तथा प्रत्येक क्षण चलती रहती है। भक्ति रुकना नहीं जानती। भक्त अपने जीवनका एक भी क्षण ईश्वरभक्तिके विना नहीं बिता सकता। वह अपने स्वभावसे आठों पहर भक्तजीवन बितानेके लिये विवश होता है। उसके प्रत्येक धन्धेको भक्तिका रूप प्राप्त हो जाता है। भक्ति मुख्य हो जाती है और धन्धा उसको अवसर देनेवाला साधन बन जाता है। वह अपने जीवनकी प्रत्येक चेष्टासे 'भक्ति' करता है। जैसे मछली पानीके वियोगकी बात मनसे भी नहीं सोच सकती इसी प्रकार सच्चा भक्त भक्तिहीन काम करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

वस्तुतः ईश्वरभक्ति कुछ समय करनेकी चीज़ नहीं है। भक्तिसे प्रेम करने वाले लोग निर्निमेषभावसे आठोंपहर भक्ति करते हैं। जो मनुष्य अपने जीवनके एक क्षणको भी भक्तिके विना बीत लेने देता है, वह अपने आठों पहर भक्तिहीन अवस्थामें खोता है। जो मनुष्य कभी कभी भक्ति करता है, वह ईश्वरभक्ति नहीं करता; किन्तु उसका अभिनय करता है। 'भक्ति' जीवनका अत्याज्य अंग बनकर हो सकती है। कभी किसी विशेष समय-पर भक्ति करनेवालोंको भक्तिरसपान करना नहीं मिलता।

कुछ समय भक्ति करना तथा कुछ समय उसे छोड़कर दूसरा काम करना यह 'भक्तिका मार्ग' नहीं है। ईश्वरीय गुणोंके विरहका असह्य बन जाना ही भक्ति करना है। भक्तिकी मनोवृत्ति आजानेपर अपने सामाजिक व्यवहारका नियंत्रण तथा अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभावपर वशीकार प्राप्त हो जाता है। भक्तिमें अहंकार (अर्थात् व्यक्तिगत उत्सुकताओं) को भेंट दे देना पड़ता है। अहंकारकी भेंट लेकर ही 'भक्ति' अर्थात् सर्वात्मकताकी स्वीकृति मिलती है।

अहंकारको न त्यागनेवाला मनुष्य जीवनके समयको अपनी वस्तु मानता है। वह उस अपने समझे हुए समयमेंसे कुछको तो अपने सुभीतेके अनुसार 'भक्ति' के लिये देना चाहता है, तथा शेष समयको 'अहंकार' अर्थात् 'शरीरकी संभोगाभिलाषा' के अनुसार भोगोंमें लगाना चाहाता है। वह 'भक्ति' तथा 'भोगमयजीवन' का समझौता और साझा कराना

चाहता है। दूसरे शब्दोंमें वह 'भक्ति' के समयको भी अपने ही अधिकारमें रखकर, उसे ईश्वरसे मिलानेवाली उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली 'दासी' रखना चाहता है। यह 'भक्ति' नहीं है। यह अहंकारकी दासता है।

'भक्ति' मनुष्यके मुखसे 'सब कुछ भगवान्का और सब कुछ भगवान्' यह कहलाना चाहती है। 'अहंकार' मनुष्यसे 'मैं ही और मेरा ही' की रट लगवाना चाहता है। जहां 'भक्ति' और 'अहंकार' का इस प्रकारका समयविभाग तथा वस्तुविभाग है वहां भगवान्से साझेदारीका नाता है। निश्चय ही वहां 'भक्ति' नहीं है। जिस मानव हृदयमें भागवत सत्ताका अखण्डितरूप प्रकट हो गया है, जहां उसके अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह गया है, वहां 'भक्ति' हो रही है।

जब भक्ति होने लगती है तब बाहरसे यह शरीर कुछ भी करता रहे भीतर तो यह भजनकी रटसे गुंजारता रहकर 'भजनमुखर भजनमन्दिर' बना रहता है। भक्तका सच्चिदानन्द स्वरूप मन सारे जगत्को चिन्मय देखने लगता है। भक्तके माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, कन्या, पति, पत्नी, शत्रु, मित्र आदि सब अपने अपने भेदोंको तोडकर उसी चिन्मय जगत्में विलीन हो जाते हैं जिसे वह अपने हृदयमें भोगता और जिसकी आराधनामें लगा रहता है। भक्त इन सब संबन्धियोंको उसी चिन्मय जगत्का स्मारक बना लेता है। शुद्धचित्तवाले भक्तोंको अत्यन्त भिन्न परिस्थितियोंमें भी अनन्त, अखण्ड, निर्मल, ब्रह्मरसभंडारकी मधुरिमा अनुभूत होने लगती है। जब भक्तको स्वजन-परजन, भोज्य-भक्षक, स्तावक-निन्दक, दाता-हर्ता, शत्रु-मित्र तथा उपासक-उत्पीडक दीखते हैं तब वह समझ लेता है कि परमात्मा ही इन सबका रूप धारण करके मुझे कभी निर्मोह, कभी निर्विकार, कभी निर्वैर, कभी निर्मम तथा कभी निर्भय स्थिति रूपी ब्रह्मसुखसागरकी मधुरिमाका स्वाद चखानेके लिये, मेरी इन्द्रियोंके सामने आता है, और इन सब बहानोंसे मुझे द्वन्द्वातीत रहना सिखाकर, अखण्ड ब्रह्मसुखपान या भक्तिरसास्वाद करानेकी अद्भुत लीला कर रहा है।

जिस समय मनुष्य अपनी भोगासक्ति या फलाभिलाषा नामकी भ्रान्तिको पहचानता है, उसी क्षण उसके ज्ञाननेत्रके सामने एक भ्रांतिशून्य अनासक्त अवस्था आखडी होती है। वही 'मनुष्यका आराध्य ईश्वर' है। मनुष्य 'अहं' या 'अज्ञान' का नाश हो जानेपर ही भोगासक्ति रूपी फलाशाको

छोड़ सकता है, पहले नहीं। उस समय मनुष्यको जिस तत्त्वका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वही 'मनुष्यका ईश्वर' है। निरहंकार हो जानेपर ही ईश्वर-तत्त्व समझमें आता है। वह इससे पहले बातों या युक्तियोंसे किसीकी समझमें नहीं आता। जिस प्रकार दिनमें अकस्मात् दृष्टि पा जानेवाले अंधेको आकाशका नक्षत्रमण्डित होना, बातों या युक्तियोंसे नहीं समझाया जा सकता, रात्रि ही स्वयं आकर उसे आकाशके नक्षत्रमण्डित होनेका विश्वास दिलाती है, इसीप्रकार बातोंसे ईश्वर नहीं समझाया जा सकता। वह तो 'प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य' पदार्थ है। वह परोक्षज्ञानका विषय नहीं है। वह बातोंकी वस्तु ही नहीं है। वह अनुभवकी वस्तु है। मनुष्यके अज्ञानका नष्ट हो जाना या उसके सुखाकांक्षी 'अहं' का मिटजाना ही उसका 'ईश्वरको समझ जाना' या उसे 'ईश्वरसाक्षात्कार हो जाना' है और यही उसका 'उपाय' है। क्योंकि 'अहंकार' का विनाश हो जानेपर प्रत्यक्ष होनेवाली मनोदशा ही 'ईश्वर' है, इसलिये जिस मनुष्यका 'अहंकार' नहीं मिटा, उसे बातों या युक्तियोंसे 'ईश्वर' (अर्थात् निरहंकार तत्त्व) कैसे समझाया जायेगा ? और कैसे वह उसे समझेगा ? अहंकार अर्थात् देहात्मबुद्धिरूपी मलिनवस्त्रको उतारदेने पर ही मनुष्यको 'ईश्वरदर्शन' होता है। अहंकार न छोडनेवाले मनुष्यकी 'ईश्वर-चर्चा' विचित्र आत्मोपहास है। 'अहंकार' को त्यागे विना 'ईश्वरमिलन' असंभव है। 'अहंकार' रूपी वस्त्रको उतारनेकी विधि ही 'ईश्वरमिलन' अर्थात् 'ईश्वरभक्ति' की विधि है। 'ईश्वरमिलन' तथा 'ईश्वरभक्ति' में कोई अन्तर नहीं है।

मनुष्यके मनकी पवित्रता ही उसका 'आराध्य भगवान्' है। जो लोग ईश्वरदर्शी भक्त नामसे ख्याति पा चुके हैं उन सबके मन पवित्र थे। इससे सिद्ध होता है कि पवित्र मन ही उन सबका आराध्य भगवान् था। वे उसीके आराधक थे। पवित्रतारूपी फल ही उनका उपास्यदेव था। मनकी पवित्रता ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप ही अपनी 'आराधना' या 'भक्ति' करनेमें लगी रहती है। मनकी पवित्रता स्वयं ही अपनी 'आराधिका' और स्वयं ही अपना 'आराध्यदेव' बन जाती है। 'आराध्य' तथा 'आराधक' की अद्वैतावस्था ही भक्ति कहाती है। भक्ति बाहरसे उधारा आनन्द आनेकी स्थिति नहीं है; किन्तु अपने आपमें ही आनन्द माननेकी स्थिति है।

'ईश्वरदर्शन' या ईश्वरभक्तिके लिये आंखोंके सामनेसे भौतिक संसा-

रको हटानेकी या भौतिक संसारसे अपनी आंख लौटानेकी आवश्यकता नहीं है। स्वरूपस्थ होजाना ही 'ईश्वरदर्शन करना' है। अपने मनके कल्पित संसार-बन्धनको छेद डालना ही 'ईश्वरदर्शन करना है'। इन्द्रियोंके बन्धनसे मुक्त मनकी त्रिगुणातीत अनासक्त अवस्था ही 'ईश्वरदर्शन' या 'ईश्वर भक्ति' कहाती है। मनुष्यका मन ही ईश्वरदर्शनका क्षेत्र है। मानवहृदय ही ईश्वर-दर्शन करता है। वह मानवहृदयमें ही होता है और वह शुद्धमनके रूपमें होता है। मनुष्यको अपने मनकी अनासक्त अवस्थाका दीख जाना ही उसका 'ईश्वरदर्शन करना' है। उससे भिन्न 'ईश्वरदर्शन' का दूसरा कोई रूप नहीं है।

मनुष्य स्वभावसे 'ईश्वरभक्त' (अनासक्त मनका स्वामी) है। उसका मन विषयासक्तिसे सदा विद्रोह करता है। यदि मनुष्य स्वभावस्थ रहे, तो वह 'ईश्वरभक्त' या 'अनासक्त मनका स्वामी' रहता है। यदि वह स्वभावस्थ न रह कर, इन्द्रियोंका दास हो जाय, तो वह 'ईश्वरद्रोही असुर' हो जाता है। यदि उसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, अर्थात् उन्हें सन्मार्गपर चलनेके लिये विवश कर लिया है; तो वह 'ईश्वरभक्त' या 'साक्षात् ईश्वर' है।

अपने मनकी सचाई ही 'ईश्वर' है। अपने आप ईश्वर हो जाना ही 'ईश्वर' शब्दका वास्तविक अभिप्राय है। अपनेसे भिन्न किसी दूसरेके 'ईश्वर' का ऊंचापद देनेके साथ मनुष्यके उस जीवनसाफल्यका कोई संबन्ध नहीं है, जिसके लिये 'ईश्वरभक्ति' की जाती है। यदि मनुष्यका 'ईश्वर' उससे भिन्न हो तो उसे उससे लाभ पहुंचनेकी कोई संभावना नहीं है। यदि मनुष्यके जीवनमें 'ईश्वरलाभ' का कोई अभिप्राय हो सकता है, तो वह स्वयं ईश्वर हो जानेसे ही हो सकता है। अपने आपको ही अपना ईश्वर, आराध्य, निरीक्षक, नियन्ता, सन्मार्गप्रेरक, तथा उत्तरदायी जान जाना ही 'ईश्वरलाभ या विमल ईश्वरभक्तिकी अवस्था' है।

कर्तव्यपालन ही 'ईश्वर-भक्ति' है। मनपर अपनी इन्द्रियोंके राग-द्वेष आदिका प्रभाव न पड़ने देकर, कर्तव्यपालन करते रहना 'ईश्वरभक्ति' है। अपनी वाणीको अनृत आदि दोषोंसे दूषित न होने देना 'ईश्वरभक्ति' है। असत्यके विरोध तथा सत्यकी रक्षाके लिये सर्वत्याग करनेको उद्यत

रहना 'ईश्वरभक्ति' है। ज्ञानी मनुष्योंकी अपने शुद्ध निर्मल मनके प्रति अव्यभिचारिणी निष्ठा 'ईश्वरभक्ति' कहाती है।

आठों पहर ईश्वरदर्शन करते रहना भक्तोंका स्वभाव होता है। वे ईश्वरदर्शन करनेमें पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। भक्तोंको दर्शन देना या न देना यह बात ईश्वरके हाथमें नहीं है। किन्तु ईश्वरका दर्शन करना मनुष्यके वशमें है। जिस मनुष्यने अपने ईश्वरदर्शन करनेके अधिकारको सुरक्षित रखा है, वही 'ईश्वरभक्त' है।

क्योंकि अनासक्त होना ही ईश्वरदर्शन करना है, और अनासक्त होना सर्वथा मनुष्यके हाथमें है, इस लिये अनासक्त होनेके लिए किसी अपनेसे भिन्न ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। इस बातको किसी बाह्य ईश्वरके हाथमें कैसे छोड़ा जा सकता है? कोई भी विचारशील मनुष्य ईश्वरके ऐसे स्वरूपको स्वीकार नहीं कर सकता। अर्थात् कोई भी विचारशील, ईश्वरको दर्शन देने या न देनेकी स्वतंत्रता नहीं दे सकता। सच्चा मनुष्य अपनी 'ईश्वरदर्शन करनेकी स्वतंत्रता' को अपने हाथोंसे बाहर कैसे रहने दे सकता है? भक्तोंका ईश्वर उन्हें दर्शन देने या न देनेमें स्वतंत्र नहीं होता। भक्त ऐसे यथेच्छाचारी ईश्वरसे अपना संबन्ध नहीं रखते, जो उन्हें जीवनभर दर्शन देनेकी आशामें रुलाता हो और कभी दर्शन देता हो या कभी न देता हो। भक्त अपने आप अपनी शक्तिसे ईश्वरको आठोंपहर अपने ज्ञाननेत्रके सामने उपस्थित रखनेमें समर्थ होते हैं। स्पष्ट शब्दोंमें ईश्वर ही भक्तोंके वशमें रहता है। भक्त ईश्वरके वशमें नहीं होते।

क्योंकि अपना पवित्र, अपापविद्ध, निर्लेप, प्रभावहीन मन ही 'ईश्वर' है, इसीलिये ईश्वरदर्शन करना ईश्वरदर्शनाभिलाषीकी ही इच्छापर निर्भर होना चाहिये, दृश्यरूप ईश्वरपर नहीं। भक्तोंके लिये ही भगवान् है। अभक्तोंके लिये ईश्वरनामकी कोई वस्तु इस संसारमें नहीं है। भगवान् भक्तोंके अधीन रहता है। ईश्वरको भक्तिमें उपस्थित रहना ही पड़ता है। भक्तिके नाटकमेंसे ही ईश्वर अनुपस्थित रहसकता है, सच्ची भक्तिमें से नहीं।

यह बडे आश्चर्यकी बात है कि जब मनुष्य अपनी शक्तिसे अनासक्त अवस्थामें सुदृढ रह सकता है फिर भी लोगोंने ऐसे 'प्रत्यक्ष ईश्वर' को छोडकर एक 'अज्ञात् ईश्वर' की कल्पना करली है, और उसको दर्शन देकर कृपाकरनेवाला या सर्वथा दर्शन न देनेवाला बना दिया है। इनलोगोंने मनुष्यको जीवनभर सच्चे ईश्वरसे अपरिचित रखकर उसे कल्पित ईश्वर की

स्तुति, आराधना, पूजा, नामजप आदि निष्फल उद्योगोंमें लगा दिया है, और इन कामोंको ईश्वरभक्तिका नाम दे दिया है।

मनुष्य अपने अनासक्त होने रूपी अधिकारको प्रयोगमें लाते ही 'अनासक्त' अर्थात् 'ईश्वरदर्शी' बन सकता है। जब मनुष्य इस अधिकारको प्रयोगमें लाना नहीं चाहता, तब 'आसक्त' (ईश्वरविमुख) हो जाता है। जो मनुष्य विषयासक्तिके मिठाससे बंधा हुआ है, वही अपनेको अनासक्त होनेमें असमर्थ मानकर विषयभोगोंमें लीन रहता है। वह अपनेको अनासक्त बनानेका काम भी ईश्वरके हाथोंमें सौंपदेता है। ऐसे मनुष्य अनासक्तिके झूठे प्रतीक्षक (उम्मीदवार) भक्त बने रहते हैं।

भक्ति साधनावस्था नहीं है। भक्ति तो सिद्धावस्था है। भक्ति प्राप्तव्य अवस्था नहीं है, वह तो रक्षणीय अवस्था है। भक्ति मनुष्यमें स्वभावसे है। विषयासक्ति नामकी आगन्तुक अवस्था भक्तिको हटाती है। सच्चे मनुष्यको विषयासक्तिके आक्रमणसे अपनी 'भक्ति' की रक्षा करनी पडती है। यों भक्ति प्राप्तव्य नहीं है, किन्तु रक्षणीय पदार्थ है। भक्ति मनुष्यका स्वरूपावस्थान है। विषयासक्ति मनुष्यकी स्वरूपसे च्युत हो जानेकी अवस्था है। जिसकी भक्तिकी मनोदशा सुरक्षित रहती है वह कृतकृत्य धन्य होजाता है, उसका संपूर्ण जीवन आनन्दमय हो जाता है। जिसमें भक्तिकी स्थिति सुप्रतिष्ठित हो जाती है, उसकी इन्द्रियोंसे भी इसी स्थितिका वर्णन, कीर्तन और सेवन होने लगता है।

यह **'नारदभक्तिसूत्र'** ऐसे ही भक्तिरसास्वादी भक्तके आह्लादमय वाक्य हैं। इन सूत्रोंमें भक्तिकी स्थितिका गुणगान किया गया है। ईश्वरप्राप्तिका असफल प्रयत्न भक्ति नहीं है। किसी भक्तके वाक्योंसे इस प्रकारका भक्तिको निष्फल प्रयत्नका रूप देनेवाला अर्थ निकालना भक्तिके विषयमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। अज्ञानी मनुष्यकी विषयासक्त बुद्धि भक्तिवाक्योंसे भी अपनी विषयासक्तिके अनुकूल तथा भक्तिविरोधी भाव निकाल लेती है और भक्तिको मनुष्यकी निस्तेज भिखारिणी मनोवृत्ति बना डालती है। भक्तिवाक्योंसे इसप्रकारके भक्तिविरोधी भाव लेना उनका अनर्थ करना है। यह व्याख्या उस अनर्थसे बचानेवाले भक्तिके शुद्ध स्वरूपका कीर्तन करनेके अभिप्रायसे लिखी गयी है।

मुद्रणप्रसंग

इस छोटीसी पुस्तकको पाठकोंके हाथमें देना अत्यन्त हर्षका प्रसंग है। इसके प्रकाशनका श्रेय अमलनेर जि. पूर्वखानदेशके 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' के श्रीमान् सेठ मोतीलाल माणकचन्दजी उर्फ प्रतापसेठजी आदि संचालकोंको है। उन्होंने अपनी संस्थासे प्रकाशित होनेवाले त्रैमासिक 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' पत्रमें प्रकाशित मेरे लेखोंको पढकर मेरे दूसरे लेखों और साहित्यको देखनेकी इच्छा प्रकट की। दूसरे साहित्यके साथ इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रति भी उनकी सेवामें भेज दी गयी। यह पतले अक्षरोंमें कटी छटी अस्पष्ट लिखी हुई थी, जिसे पढनेके लिये धैर्य, उत्साह तथा परिश्रम अपेक्षित था। उन्होंने उस हस्तलिखित अस्पष्ट प्रतिको भी यत्नपूर्वक पढा, पसन्द किया और छपनेके लिये 'गीतापरिशीलन' के साथ मुद्रणालयमें भेजदिया। इसप्रकार ईश्वरेच्छासे इसग्रन्थने अपने आप ही अपने छपनेका प्रबन्ध करालिया। मेरे लिखे साहित्यको जो सर्वथा नवीन प्रकारकी स्वतंत्र विचारपद्धतिपर आश्रित है, जिसे पक्षपातरहित मताध्यासहीन होनेपर ही अपनाना संभव है। संस्थाके योग्य, उदार, परमतसहिष्णु संचालकोंने प्रकाशित करके जनताके पास पहुंचा देनेके लिये पसन्द किया है; इस लिये उनकी सुरुचि और उदारता ही इस ग्रन्थके प्रकाशनका दृश्यमान कारण है। ईश्वरेच्छा तो सबका कारण है ही। इसके लिए मैं तत्त्वज्ञानमन्दिर संस्थाके संचालक श्रीमान् सेठजीका अत्यन्त आभार मानता हूं।

इस भाष्यके लेखनमें तथा मुद्रणके समय संशोधनमें श्री भाई रामरक्खाजीने जो निष्कारण बहुमूल्य सम्मति तथा सहायता दी है वह इस पुस्तकका परम सौभाग्य है। इस ग्रन्थके मुद्रक महोदय श्री विठल हरि बर्वेजीने इसके प्रूफ़ पांचवार दिखाकर हमें इस की प्रत्येक त्रुटि दूर करनेका अवसर दिया है। उनकी कार्य कुशलतासे ही यह ग्रन्थ इतने शुद्ध तथा सुन्दर रूपमें पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। वे भी हमारे धन्यवादके पात्र हैं।

बुद्धिसेवाश्रमके बालकोंकी पढ़ाईकेलिये 'ब्रह्मविद्याग्रन्थावलि' नामसे सर्वथा नवीन शैलीसे पाठ्य ग्रन्थोंकी रचना की गयी है। उसमें जाग्रतजीवन, ईश्वरभक्ति, गीतापरिशीलन, आर्यसंस्कृतिका विचारस्रोत, जीवनसूत्र, ग्रामसुधार, समाजवाद, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, सत्य अहिंसाके द्वारा भार-

तीय स्वतंत्रता, भगवद्गीताके जन्मादाता सिद्धान्त, शिक्षकोंका मार्गदर्शक, बालजागरण, बालप्रश्नोत्तरी, नारदभक्तिसूत्र आदि अनेक ग्रन्थ हैं। उस ग्रन्थावलिमें 'गीता परिशीलन' पहला तथा यह दूसरा ग्रन्थ है। यह सब साहित्य अभीतक अमुद्रित है। केवल यह नारदभक्तिसूत्रोंका भाष्य तथा इसकेसाथ गीतापरिशीलन भाष्य तत्त्वज्ञानमन्दिरके संचालकोंके प्रबंधसे मुद्रित होनेका अवसर पा रहे हैं।

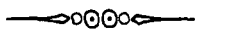
यद्यपि यह सब साहित्य प्रायः अपने आश्रमके बालकोंके लिये रचा गया है। परन्तु इस साहित्यको समाजकी आंख खोलनेवाला देखकर, समस्त देशके लिये उपयोगी मानकर, शेष सब साहित्य भी योग्य प्रकाशकोंको दिया जानेके लिये प्रस्तुत है।

यदि कोई महानुभाव इन अमुद्रित पुस्तकोंको छपाना चाहें या इन मुद्रित भाष्योंका भाषान्तर करना चाहें वे निम्न पतेपर पत्रव्यवहार करें।

फाल्गुन पूर्णिमा १९९५ वि०
'बुद्धिसेवाश्रम'
पो. रतनगढ, जि. बिजनौर.
(यू. पी.)

निवेदक—
रामावतार
संचालक बुद्धिसेवाश्रम

नारदभक्तिसूत्र



अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अर्थ—क्योंकि भक्तिके विना यह संसार बन्धनरूप है, इसलिये अब 'भक्ति' की व्याख्या करेंगे।

भाव—इस बाह्य जगत्को परख लेनेके पश्चात्, इसे अस्थिर पाकर, इसके साथ अपने नित्य स्थिर रहनेवाले परमप्रिय सत्यका कोई संबन्ध न देखकर, अब हमें अपने अन्दर रहनेवाली, सत्यकी उसी, अव्यभिचारिणी प्रेमिका भक्तिका दर्शन और कीर्तन करना चाहिये, जो सत्यके विना दूसरे किसीको अपनानेके लिये उद्यत नहीं है।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

अर्थ—वह (भक्ति) तो इस जगत्में परम (ईश्वर या सत्य) के लिये प्रेमरूप है।

भाव—जो परमतत्त्व मनुष्यके आत्माको और इस विश्वको, मनुष्यके प्रियतम सत्य स्वरूपसे अभिन्न बना देता है; उस परमतत्त्वके लिये मनुष्यके मनमें जो स्वाभाविक प्रेम है, वही 'भक्ति' है। भक्ति ऐसी वस्तु है जो मनुष्यको इसी संसारमें (संसारमें दीख पड़नेवाले अनन्त भेदोंकी विद्यमानतामें ही) मनुष्यके प्रियतम सत्यरूपी आराध्य देवसे मिला देती है। भक्त-मनुष्यकी दृष्टिमें इस भक्तिके सामने संसारके बहुमूल्य समझे हुए पदार्थोंका कोई मूल्य नहीं रहता। जब मनुष्य अपने अंदर रहनेवाले तथा सत्यसे कभी विच्छिन्न न होनेवाले इस भक्तिरूपी हठको धारण करलेता है, तब उसकी इस बाह्य जग को शुभरूपमें दिखानेवाली अभ्रान्त आंख खुलजाती है। तब मनुष्य जो कुछ देखता है, सबमें उस परमप्रेमरूपी अपने ही स्वरूपको पाता है। तब मनुष्यका किसीसे द्वैत या पार्थक्य नहीं रहता। तब उसका किसीसे वैरभी नहीं रहता। इस प्रकार सर्वत्र तथा सब भूतोंमें निर्वैर स्थिति नामकी, जो 'भक्ति'की अवस्था है, वही मनुष्यका परमश्रेय प्रेमस्वरूप आत्मा है।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

अर्थ—वह अमृतस्वरूप भी है।

भाव—वह भक्ति मनुष्यको अमृतपान कराकर मृत्युञ्जय बनाती है। जैसे रोगीको रोगमुक्त करनेके लिये, ओषधि अमृतका काम करती है, वैसे ही इस संसारबन्धनमें फंसे हुए विकारग्रस्त रोगी मनुष्यके लिये भक्तिसुधा महौषधका काम देती है। संसारबन्धनमें फंसे हुए अज्ञानी मनुष्य सुखदुःखके चक्करमें उलझ जाते हैं। वे सुखको चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। वे दुःखको छोड़कर सुखको स्थायी बनानेके लिये, सुखेच्छारूपी मायासे पथभ्रष्ट होकर, इस नाशवान पांचभौतिक देहको अपना स्वरूप-समझनेके कारण, इसीको कालग्रस्त न होने देनेकी दुर्भावनारूपी मृत्युके पंजेमें फंसे रहते हैं। भक्ति नामकी शुभ दृष्टिको प्राप्त कर लेना ही इस मृत्युसे बचे रहनेका एक मात्र कौशल है। वह भक्ति नामकी शुभ दृष्टि स्वभावसे मनुष्यके भीतर बैठी है। और उसे सत्यको छोड़कर असत्यको अपनानेकी भूल कभी नहीं करने देती। ऐसी भक्तिसे विमुख हो जानेपर मनुष्यके कल्याणकी दूसरी कोई गति नहीं रहती। भक्ति ही मनुष्यको विषयविकाररूपी भवरोगसे मुक्त कर देनेवाली अमृतस्वरूपा महौषधि है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसको पाकर पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है और तृप्त हो जाता है।

भाव—भक्तिको पाकर मनुष्यकी तपश्चर्या सिद्ध हो जाती है। तपश्चर्याके सिद्धहोनेकी यही पहचान है कि तप करनेवाला स्वयं अमृतस्वरूप हो जाय, उसकी तपश्चर्याके ध्येयमें और उसके स्वरूपमें कोई भेद न रहे। वह स्वयं ही अपना ध्येय और स्वयं ही अपना ध्याता हो जाय। जब वह स्वयं ही अपना ध्येय बन जाता है, तब इस संसारमें उसके पाने योग्य कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती। तब वह स्वयं ही अपना आराध्य या काम्य बनकर, कामनारहित विक्षेपरहित, तथा आनन्दस्वरूप होकर, अपनेमें ही निमग्न रखनेवाली स्वाधीन तृप्तिका दर्शन करता रहता है।

भक्तिको पाकर तपश्चर्याकी सिद्धि हो जानेका यही अभिप्राय है कि सच्चे मनुष्यमें इस प्रकारका अटल आग्रह स्वभावसे आजाता है कि मैं कभी सत्यसे पृथक् नहीं रहूंगा। भक्तोंमें यही तपश्चर्यारूपी दैवी स्वभाव मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाता है। इस स्वभावको प्राप्त हो जाना और सत्यपर सुप्रतिष्ठित रहना एक ही बात है। सत्यमें सुप्रतिष्ठित होना और उससे कभी च्युत न होना ही सच्ची 'तपश्चर्या' है। ऐसी अभ्रान्त तपश्चर्या करानेवाली शक्ति मनुष्यमें भक्तिके रूपमें रहती है। जब मनुष्यकी भक्ति, मनुष्यको सत्यसे मिलाती है, तब यह स्वभावसे योगी मनुष्य अपने सत्यस्वरूपसे सुपरिचित रहकर, सत्यसे सदा अपना अटूट संबन्ध बनाये रखनेकी अभ्रान्त कलाको पा लेता है और आठोंपहर आत्मज्ञानरूपी अमृतफलका स्वाद लेनेमें निमग्न रहता है। उसमें उस अमृतफलका आस्वाद विक्षेपरहित, निष्काम तथा आनन्दमयी स्थितिके रूपमें प्रकट रहता है। सचमुच भक्ति मनुष्यको सच्चिदानन्दसागरमें निमग्न करके, उस सागरके सत्य, ज्ञान तथा आनन्दनामक अक्षय और अमूल्य मोतियोंका लाभ कराकर कृतार्थ बना देती है।

'यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसे पाकर किसी प्रकारकी विषयसंबन्धी इच्छा, शोक, द्वेष, रमण और उत्साह नहीं रहता।

भाव—किसी अप्राप्त भगवान्को प्राप्त करनेकी अतृप्त रहनेवाली आकांक्षाको 'भक्ति' नहीं समझा जा सकता। किन्तु अपने वांछित सत्यरूपी भगवान्से मिलचुके होनेकी पूर्णकाम अवस्थाको ही 'भक्ति' कहा जा सकता है। 'भक्ति' कभी अपने आराध्य सत्यरूपी भगवान्से पृथक् रहकर नहीं होती। अपने प्यारेसे सदा मिले हुए भक्तोंमें, हम सदा अपने प्यारेसे मिले हुए रहेंगे, इस प्रकारकी दृढ इच्छा 'भक्ति'के रूपमें प्रकट होती है। भक्ति अपने प्यारेसे विच्छिन्न रहना नहीं जानती। जिस भाग्यवान् हृदयमें ऐसी सच्ची भक्ति उदित हो जाती है, वह हृदय अपने वांछित सत्यरूप प्यारेसे आठों पहर मिला रहता है। वह ऐसी आनन्दमयी अवस्थाको पाकर वांछा करे तो किसकी करे? उस

समय उसे यदि कोई इच्छा हो सकती है तो यही हो सकती है कि हमारे प्यारेका मिलाप कभी खण्डित न होने पाये।

मिलनानन्दमें निमग्न रहनेवाला वह भक्तहृदय, प्रियमिलनसुख-सागरकी मीन बनजाता है और अपने प्यारेकी अनन्त रूपराशिको निर्निमेष नेत्रोंसे पान करनेमें निमग्न हुआ रहता है। वह अपने प्यारेको निमेष मात्रके लिये अपनी दृष्टिसे बाहर जाने देनेकी कल्पनाको भी असह्य मानता है। वह कल्पित विच्छेदाशंकाको भी व्यर्थ बनाता रहता है। वह अपने आनन्दपुलकित चिन्मय देहके रोमरोममें, मिलनान्दको मूर्त, जाग्रत, तथा कण्टकित करता रहता है। अद्वैतानन्दको मधुरसे मधुरतर बना बनाकर उसका संभोग करते रहना ही भक्तोंका काम है।

अद्वैतानन्दको मधुरसे मधुरतर बना बनाकर संभोग करनेवाले, काल्पनिक द्वैतलीलाके पुण्यक्षेत्र, उस भक्तहृदयके सूर्यकोटिसमप्रभ, चन्द्रकोटिसुशीतल, ज्योतिर्मय संसारमें, विषयमदिरासक्तिरूपी उलूक जैसे कामक्रोध आदि रिपुओंका उत्पन्न होना असंभव हो जाता है। भक्तहृदय अपने पास ब्रह्मसुखको छोडकर विषयसुखको चखनेका अवसर कभी नहीं आने देता।

भक्तके सत्यरूप भगवान् भी उसके उस पवित्र हृदयमान्दिरसे बाहर एक पैर भी न हटनेका दृढ हठ करके जमे रहते हैं। प्रत्येक क्षण सत्यसे सम्मिलित रहनेवाला भक्त हृदय अवांछित असत्यको सत्य मानलेनेकी भूल कभी नहीं करता और पामर लोगोंकी अभिलाषा के विषय रूपरस आदिकी इच्छा करनेका अवसर कभी नहीं पाता। इसे ही भक्तका 'कुछ न चाहना' कहते हैं।

क्योंकि असत्को सत् समझानेवाली विषयसुखेच्छाको भक्त-हृदयमें प्रवेश नहीं मिलता, इसलिये मनुष्यको सुखदुःखके बन्धनमें फंसानेवाले, अनित्य, रूप, रस आदि विषय भक्तके पास आकर उसे शोकग्रस्त नहीं करते, किन्तु उसे शोकातीतताका आनन्द पानेका अवसर देते हैं। इसी कारण भक्तहृदय शोकातीत अवस्थामें रहता है।

जब भक्तहृदयका अपने वांच्छित सत्यरूपसे अच्छेद्य मिलन हो जाता है तब वह परिपूर्ण हो जाता है, और उसकी सत्यकी विच्छेदाशंका सदाके लिये मिट जाती है। फिर उसे अपनेसे अधिक आनन्द कहीं नहीं दीखता। उसके हृदयके अतुलनीय आनन्दको हरनेवाला शत्रु संसारमें नहीं रहता। भक्त जिससे मिलता है वही उसे प्रियदर्शन तथा प्रियस्मरण करानेवाला और प्रियसे सम्मिलित बनाये रखनेवाला बनजाता है। भक्तको जो दीखता है, वही प्रियसम्मेलनकी स्मृतिको नया करनेवाला और प्रियसम्मेलनके गौरवको बढानेवाला साधन बनजाता है। जब कोई भक्त भक्तिकी महिमासे सत्यस्वरूप वांच्छितपदमें सम्मिलित हो जाता है, तब उसके लिये यह संपूर्ण संसार सत्यसहायक, सत्यस्मारक, परमसुहृद हो जाता है, वह द्वेष किससे करे ?

जब भक्तका सत्यसे भिन्न किसीसे कोई नाता नहीं रहता, तब सर्वत्र शुभदृष्टि रखनेवाला भक्त, अपनेको किसी अवस्थामें अपने सत्यरूपी अव्यर्थ साथीसे पृथक् नहीं पाता। भक्त विषयविकाररूपी असत्यके धोकेमें कभी नहीं आता। रूपरस आदि विषय भक्तहृदयमें कामक्रोध आदि विकार उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। भक्तको दीखनेवाले रूपरस आदि विषय उसे अपने पीछे दौडनेवाला बनानेमें असमर्थ होकर उसे निर्विकार स्थितिमें अटल रहनेकी उत्तेजना देनेवाले बन जाते हैं और निष्काम, अक्रोध, निर्लोभ, निर्मोह तथा निर्मत्सर बनाये रहनेके साधनरूपमें उपयुक्त होने लगते हैं। विषय उसके लिए रमणीय नहीं रहते।

जैसे मधुपानमें रत हो जानेपर भ्रमरकी गुंजार बन्द हो जाती है, इसीप्रकार प्रियमिलन होनेपर मिलनानन्दमें निमग्न रहने का प्रगाढ प्रेमी हो जानेके कारण भक्तका मिलनोत्साह फिर बाहर प्रकट नहीं होता। यों जब भक्तहृदय अपने वांछित सत्यरूपसे मिल जाता है तब आप्तकाम, शोकातीत, निर्वैर, अभ्रान्त तथा परिपूर्णानन्दरूप हो जाता है और उसके पास विषयके लिए उत्साह नहीं रहता।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसे जानकर तन्मय हो जाता है, निश्चल (तृप्त) हो जाता है और अपनेमें ही विचरण करनेवाला बन जाता है।

भाव—भक्तिरसका पानकरनेके अनन्तर भक्तको सर्वत्र सत्यभगवान् दीखने लगता है। भक्तिरूपी ब्रह्ममदिराके प्रभावसे सब भूतोंमें ब्रह्मदर्शन करनेवाले उस भक्तके मनमेंसे, लघु गुरु और उच्च नीचका भेद मिट जाता है, तथा उसे सर्वत्र आत्मदर्शन होने लगता है। सब भूतोंमें अपने आत्मतत्त्वका दर्शन करके 'मस्त' बना हुआ भक्त, इस संपूर्ण विश्वको प्रेमालिंगनसे अपनालेता है; और तन्मय हो जाता है।

परिपूर्णानन्दको प्राप्तकरनेवाले अमृतका पान करलेनेके अनन्तर भक्तकी चक्षु आदि इन्द्रियां बाहरके रूपरस आदिको अन्दर लाना छोड देती हैं। उस अमृतका पान करलेनेके पश्चात् अंदर की आनन्दध्वनिके लिये बाहर आकर प्रतिध्वनित होनेका कोई कारण नहीं रहता। अन्दर बाहर परिपूर्णता ही परिपूर्णता का मूकास्वाद लेनेवाले भक्तका निश्चल हृदयसमुद्रमें डूबे हुए पूर्ण कुम्भके समान निश्चल और निराकांक्ष बन जाता है। वह पूर्ण तृप्त (अचल) बना रहता है।

परन्तु भक्तहृदयकी यह निश्चल स्थिति भक्त की कर्मशक्तिको निश्चल नहीं बनाती और उसे आलस्य या जडताके शापसे कलंकित नहीं करती। भक्त लोग अपने आराध्य सत्य स्वरूपमें अटल बने रहनेके लिये प्रतिक्षण कर्मरत रहनेकी प्रकृतिको साथ लेकर उत्पन्न होते हैं। वे अपनी कर्मशक्तिको देहधारणके महान् अभिप्रायमें अचल और अटल भावसे नियुक्त रखनेवाले होते हैं। उनका वह परमकर्तव्य उनके सामने आठों पहर उपस्थित रहता है और उन्हें कर्मरत रखता है। वे मन वचन कर्मसे जो कुछ करते हैं, उसमें अपने हृदयकी निर्विकार सत्यारूढ अविचलित स्थिति की रक्षा करते रहते हैं और शान्त रहते हैं। सब अवस्थाओंमें निर्विकार और शान्त रहनेवाली, तथा उनके जीवनको प्रतिक्षण परमकर्तव्यसे भरपूर रखनेवाली, नैष्कर्म्य नामकी चंचलता न करने देनेवाली, उनके हृदयकी एकनिष्ठ अवस्था ही उनकी सच्ची 'स्तब्धता' होती है। जब ऐसी गंभीर और सच्ची स्तब्धता आती है, तब दर्शन,

स्पर्शन, श्रवण, जिघ्रण, आस्वादन, कीर्तन, स्मरण, मनन, चिन्तन, आदि, कोई क्रिया अपने ध्येयसे वियुक्त नहीं होतीं। तब वे सबकी सब आत्मतत्त्वमें समाहित रहती हैं। तब वे सबकी सब भक्तको आत्मतत्त्वमें विचरण करनेवाला बनाये रखती हैं।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

अर्थ—वह कामना नहीं करती। क्योंकि वह तो मूर्तिमती कामना-शून्यता है।

भाव—कामनाशून्य होना ही 'भक्तहृदयकी काम्य वस्तु' है कामना-शून्यता का निश्चितरूपसे सुरक्षित हो जाना ही 'भक्ति' है। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा 'कामना' कहाती है। जब प्राप्त समझी जानेवाली वस्तु प्राप्त होकर भी विनाशभयरूपी दुःख उत्पन्न करती रहती है, तब उस दुःखको भी कामनाका ही उत्पन्न किया माना जाता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि कामना मनुष्यको काम्यकी अप्राप्तिमें भी दुःख देती है, और प्राप्तिमें भी दुःखी रखती है। जब काम्यवस्तु प्राप्त होती है तब उससे मिलनेवाले क्षणिक सुखकी प्रतीति ही समयान्तरमें दुःखके रूपमें प्रकट होती है, इस लिये मान लो कि इस कामनाका वास्तविक स्वरूप दुःखके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि सांसारिक सुखोंको अपनाना, जान बूझकर दुःखोंको अपनालेना है। जब तुमने सुखके धोकेमें दुःखको अपनाया हो तब समझ लो कि तुम कामनाके फंदेमें आगये हो।

कामना सदा ऐसी वस्तुके लिये होती है, जो किसी भी अवस्थामें मनुष्यकी आशा पूर्ण नहीं कर सकती, जो मनुष्यको सदा आशाजालमें फंसाये रहती है, जो अप्राप्त अवस्थामें तो लोभ करने योग्य तथा स्थायी रूपसे संभोग करने योग्य समझी जाती है, तथा प्राप्त समझी जानेपर भी अप्राप्तसे कम दुःख नहीं देती। कहने का अभिप्राय यही है कि जो वस्तु अपने इच्छुक पुरुषको सदा अतृप्त वासनारूपी सुखेच्छाके सुदृढ बन्धनमें फंसा कर रखती है, और बन्धनमुक्त होनेका अवसर देना सर्वथा नहीं जानती, वही 'काम्यवस्तु' मानी जाती है। रूपरस आदि विषय ही ऐसी वस्तु हैं।

भक्तके हृदयमें रहनेवाली भक्ति, सदा भक्त बने रहनेकी इच्छाके रूपमें रहती है। वह क्षणभरके लिये भी किसी बन्धनमें आना स्वीकार या सहन नहीं करती। वह सदा अपने परम आराध्य सत्य-स्वरूप नित्यमुक्त भगवान्‌से मिली रहती है। मनमें विषयवासनाका न रहना ही 'सदा भक्त बने रहनेकी इच्छा'का अभिप्राय है। मनमें विषयवासनाको रखना 'भक्तिसे द्रोह करना' है। भक्ति अपनेको सदा सत्यसे अविच्छिन्न रखती है। कामनाका स्वभाव भक्तिसे सर्वथा विपरीत है। वह अपनेको सदा विषयवासनासे वेष्टित रखती है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर कामनाको तो 'मूर्तिमती भक्ति-हीनता' कहना चाहिये और भक्तिको 'मूर्तिमती कामनाशून्यता' मानना चाहिये। भक्तिकामना भक्तिसे भिन्न वस्तु नहीं है। भक्तके मनकी निष्काम अवस्था 'ही भक्तिकामना' कहाती है। जिस हृदयमें विषयवासना नहीं है, वही 'भक्तहृदय' कहाता है। विषयवासनाका न रहना ही 'भक्ति करना' होता है। भक्तहृदयमें आनिवार्य रूपसे 'भक्तिकामना' रहती है। भक्त हृदय निवृत्तिके परकोटेसे सुरक्षित किया हुआ सुदृढ दुर्ग है। निवृत्तिके परकोटेमें बैठनेवाला भक्त हृदय, रूप रस आदि विषयोंकी उपेक्षा करके, कामक्रोध आदि लुटेरों पर घात करते रहनेवाला एक सदृढ दुर्ग बना रहता है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

अर्थ—लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें अहंकारका त्याग ही निरोध (कामना-शून्यता) है।

भाव—प्रत्येक मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें लौकिक-वैदिक दो प्रकारके व्यापार होते हैं। जो व्यापार मनुष्यको करने ही पड़ते हैं, जिनको न करनेसे शरीरयात्रा रुकती है, वे 'लौकिक व्यापार' कहाते हैं। जिन व्यापारोंका करना या न करना मनुष्यकी विचारशक्तिपर निर्भर होता है, जो सन्तोषका उपार्जन करनेके लिये करने पड़ते हैं, वे 'वैदिक व्यापार' कहे जाते हैं। लौकिक व्यापारका अभिप्राय यही है कि इस सम्पूर्ण उत्पत्ति, स्थिति, विनाशशील जगत्‌के साथ इसीका अंग बनकर, अपनी अवश्यंभाविनी गतिका स्वागत करते रहा जाय। अर्थात् शरीरयात्रारूपी अनिवार्य प्राकृतिक धर्मोंके

अधीन बने रहना 'लौकिक व्यापार' कहाता है। 'वैदिक व्यापार' का यही अभिप्राय है कि सत्य असत्यका विचार करके यदि वह व्यापार सत्यानुमोदित प्रतीत हो तो उसे स्वीकार किया जाय और यदि वह सत्यका अनुमोदन न पासके तो उसे त्याग दिया जाय।

सूत्र तो निर्विशेषरूपसे प्राकृतिक, तथा सत्यकी स्वीकृतिसे किये हुए दोनों प्रकारके अत्याज्य व्यापारोंके न्यास अर्थात् त्यागको ही 'भक्तिकी स्थिति' बता रहा है, और यहां (जगत्में) प्रकृति अपनी अनुल्लंघनीय शक्तिका प्रयोग करके मनुष्यको विवश बनाकर आठों पहर इस मनुष्यसे सब प्राकृतिक कर्म करानेमें लगी हुई है, और इन कर्मोंका भौतिक रूपसे त्याग कर सकना देहधारीके वशकी बात नहीं है। इसी प्रकार सत्य असत्यका विचार करके त्याज्य ग्राह्यके निर्णयरूपी व्यापारको रोक सकना भी देहधारीके वशमें नहीं है। क्योंकि जैसे एक व्यापारको ग्रहण करना व्यापार कहाता है, इसी प्रकार किसी व्यापारको त्यागना भी व्यापार ही कहाता है। ऐसी अवस्थामें भक्तके लौकिक वैदिक व्यापारोंके न्यासकी स्थितिका यही सच्चा अर्थ करना पड़ता है कि भक्त इन व्यापारोंका न्यास न करके इनके संबंधमें अपने 'अहंकार' का ही 'न्यास' करता है। वह अपने आपेको मिटा डालता है। अर्थात् वह स्वयं इन सब व्यापारोंका कर्ता न बना रहकर अपने जीवनकी अधिष्ठात्री देवी अव्यभिचारिणी भक्तिके सर्वसमर्थ स्वामी सत्यस्वरूप भगवान्को ही अपने जीवनके समग्र व्यापारोंका कर्ता समझ जाता है। यहां पर 'त्याग' का अभिप्राय अपने आपका त्याग या बलिदान करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया जा सकता।

किसी भौतिक पदार्थके त्यागको 'त्याग' के नामसे नहीं कहा जाना चाहिये। क्योंकि किसी दूसरी नवीन भौतिक वस्तुको ग्रहण करनेके लिये ही पहली पुरानीको त्यागा जाता है। ऐसे त्यागको 'त्याग' न समझकर 'ग्रहण' समझना पड़ता है। बात यह है कि मनुष्यमें रहनेवाली अहंबुद्धि संपूर्ण भौतिक पदार्थोंके त्यागका नाटक खेलकर भी जब तक अपने पांचभौतिक देहको अपनाना

नहीं छोडेगी, तब तक वह 'त्याग' या 'न्यास' नामके किसी भी धर्मका पालन नहीं करेगी। जब मनुष्य भौतिक देहके स्वामी बननेकी भावनाको भी त्याग चुकेगा, उस समयकी उदार स्थितिको इन शब्दोंमें कहा जायगा कि वह मनुष्य इस भौतिक देहसे किये जाने या त्यागे जानेवाले कर्मोंका; तथा इस देहके जीवित रहने या मरजाने रूपी कर्मोंका कर्ता नहीं रहा। जब ऐसी अवस्था आचुकी होगी उस समय मनुष्य अपने आपको मिटा चुका होगा।

जिस प्रकार लौकिक (भौतिक) व्यापारोंमें अपने आपको मिटाना (कर्ताहं बुद्धिको छोड़ देना) 'त्याग' है, इसी प्रकार वैदिक व्यापारोंमें सत्यासत्यका विचार करके सत्यको अपनालेना ही 'अपने आपको मिटा देना' है अर्थात् 'अपना त्याग कर देना' है।

जब तक मनुष्य सत्यको नहीं अपनायेगा तब तक असत्यको सत्य मानलेनेकी भूल करता रहेगा और जब कभी त्याज्य ग्राह्यके निर्णय करनेका अवसर आया करेगा तब ही ग्राह्यको छोड़कर त्याज्यको अपनालिया करेगा। यही स्थिति अपनेको कर्ता माननेकी स्थिति है। इसीका नाम 'अज्ञान' है। इसीका नाम 'अहंबुद्धि नामकी विषयासक्तिका बन्धन' है।

जब 'भक्ति' आती है, तब इसी बन्धनको छिन्नभिन्न करनेके लिये आती है। वह आकर इस बन्धनको छिन्नभिन्न करके अपने आराध्य 'सत्य'को अपना अटल स्वामी बना लेती है और सब कर्मोंमें अहंभावका त्याग करा देती है।

कर्ताहं बुद्धि ही 'सुखेच्छा' है। यही 'कामना' है। यही 'विषयविकार' है। कर्ताहंबुद्धिको त्यागदेना ही 'सत्यकी सेवाके लिये कर्म करना' या 'भक्ति करना' कहाता है। भक्त जो कुछ करता है, या त्यागता है, वही उसका कर्ताहंबुद्धिसे रहित होकर 'सत्यकी सेवाके लिये किया हुआ कर्म' हो जाता है।

भक्तके इस प्रकारके समस्त कर्म अपने आराध्यदेव सत्यके साथ अभेदमिलनको अटूट बनाये रखनेके लिये होते हैं। सत्य अपनी ही अनन्त शक्तिसे शक्तिमान् रहकर, उस भक्तजीवनके संपूर्ण व्यापा-

रोंमें कर्ता बना रहकर प्रकट होता है। वह भक्तके जीवनमें प्रकट होकर सब प्रकारकी विरोधी अवस्थाओंको पराभूत करके विजया बना रहता है। इसीको संतोंका निरहंकार भाव, न्यास, कर्मन्यास, व्यापारन्यास, या भक्ति कहा जाता है।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

अर्थ—न्यासमें अनन्यता और न्यासका विरोध करनेवालोंके प्रति उदासीनता भी निरोध है।

भाव—सत्यके कर्तृत्व तथा अपने अकर्तृत्वका ज्ञान ही 'न्यास' है। इस न्यास पर अनन्य प्रेम रखना तथा जो विषय इस न्यासका विरोध करनेवाले हों, उनको उपेक्षणीय समझना, निरोध या 'कामनाशून्यता नामकी भक्ति' है। जब सत्य भक्तजीवनका नियामक बन जाता है, तब असत्य भक्तजीवनमें पराभूत होनेके काम आने लगता है। तब वह पराभूत होनेके उपयोगमें आकर, भक्तजीवनकी स्थितिको सत्यारूढ तथा निर्विकार बनाये रखनेमें उपयुक्त होने लगता है।

यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् नाशवान् है। जब मनुष्य इस अनित्य जगत्के रूपरस आदि विषयोंको इन्द्रियोंसे भोग करने योग्य पदार्थ मान लेता है, और उन्हें उपार्जन करने योग्य स्वीकार कर लेता है, तब ये रूपरस आदि मनुष्यको सत्यसे हटानेवाले विषय बन जाते हैं। जब मनुष्यके मनमेंसे इन असत्य पदार्थोंको चाहनेवाली सुखेच्छारूपी अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है, तब सत्यके कर्तृत्वका और अपने अकर्तृत्वका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

सत्यके कर्तृत्वमें तथा कामनाके अकर्तृत्वमें अनन्य प्रेम रखना ही 'भक्ति' का स्वभाव है। भक्ति एक क्षणके लिये भी सत्यको त्यागनेको उद्यत नहीं है। वह कभी सुखदुःखके बन्धनमें फंसानेवाली रूपरसादिकी कामनाको अपनानेके लिये उद्यत नहीं है। बात यह है कि क्षणभरके लिये रूपरस आदिकी कामनाको अपनाना और सदाके लिये सत्यको त्याग देना एक ही बात है। इसी प्रकार क्षणभरके लिये रूपरस आदि विषयोंकी उपेक्षा करना और सदाके लिये सत्यको अपनालेना भी एक ही बात है। यों कर्ताहं बुद्धिके न्यासमें अनन्य भावनाका यही अभिप्राय है कि सत्यको एक

क्षणके लिये भी न त्यागनेका दृढ निश्चय करके, संपूर्ण व्यापारोंमें उसे ही कर्ता जानलो और सदाके लिये सत्यारूढ रहो।

यदि विषयोंका मोह मनपर क्षणभरके लिये भी अधिकार जमाले तो समझलेना कि तुम्हारे मनमें सदा भक्तिका विरोध होता रहता है। भक्तका शुद्ध मन सदा सत्यके विमलानन्दमें निमग्न रहता है। वह इस बातके लिये स्वभावसे ही सावधान रहता है कि मनमें सत्यके विमलानन्दका विरोध करनेवाली विषयसुखेच्छा कभी किसी प्रकार प्रविष्ट न होने पाये। भक्तका शुद्ध मन विषयवासनाको अपनी पवित्र निर्लिप्त स्थितिका विरोध करनेवाली जानता है और उसे उत्पन्न करनेवाले रूपरस आदि विषयोंमें उपेक्षाबुद्धि रखता है। भक्तका मन सदा अतुलनीय, निर्विकार, निर्विषय तथा सत्यकी ज्योतिसे ज्योतिर्मय बना रहता है। भक्तके ज्योतिर्मय मनके सामने विषयवासनाके कीचड़से सना हुआ अशुद्ध मन निकृष्ट, घृण्य और उपेक्ष्य बन जाता है। भक्तका शुद्ध मन यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि रूपरस आदि विषय कभी मुझे आकृष्ट कर सकेंगे। चक्षु आदि इन्द्रियोंको अनुकूल या प्रतिकूल दीखनेवाले सुरूप, कुरूप, स्वादु, अस्वादु आदि पदार्थोंमें समबुद्धि रखनेवाला भक्त, संसारके संपूर्ण पदार्थोंको अपनी सत्यमयी मानसिक स्थितिकी रक्षा करनेके उपयोगमें लाता है। भक्तलोग भक्तिविरोधिनी विषय-वासनाके प्रति उदासीनताकी स्थिति रखते हैं। उनकी उदा-सीनताको इस प्रकार समझना चाहिये कि वे दृश्यमान् जगत्के रूपरस आदिको कोई महत्त्व नहीं देते। वे उन सबका उपयोग केवल सत्यकी सेवामें करते हैं। वे अपने जीवनकी छोटीसे छोटी घटनामें भी सदा अपनी निर्विकार सत्यमयी मानसिक स्थितिकी रक्षा करनेमें सावधान रहते हैं।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अर्थ—अन्य आश्रयोंका (अहंकारके आश्रयोंका) त्याग कर देना ही 'अनन्यता' कहाती है।

भाव—भक्ति अपने आराध्य सत्य स्वरूप भगवान्से सदा मिली रहती है। भक्त हृदयका अनित्य रूपरस आदि विषयोंसे भरी हुई इस सृष्टिकी

असत्य परिस्थितिके साथ निरंतर संघर्ष रहता है। उसके हृदयकी अधिष्ठात्री देवी, सत्यका अनुगमन करनेवाली अव्यभिचारिणी 'भक्ति' इन सब संघर्षणोंके प्रत्येक अवसरको अपने सत्यरूपी प्रियतमसे अभेद बनाये रखनेमें उपयुक्त करती रहती है। मनुष्यको चाहिये कि उसे जब जब इस प्रकारका अवसर मिले वह तब तब उस अवसरसे अवश्य लाभ उठाये और उसे फिरके लिये स्थगित न करनेका दृढ हठ करले, यही 'भक्तिकी अनन्यता' कहाती है।

भक्तहृदय क्षणभरके लिये भी सत्यविरोधी रूपरस आदि विषयोंसे सुखकी याचना करनेवाली व्यभिचारिणी भावनाको नहीं अपनाता। उसको जब कभी रूपरस आदि विषयोंके संपर्कमें आना पड़ता है वह तब ही उनकी उपेक्षा करता है। वह उन्हें उपेक्षा करने योग्य मानकर अपनी निर्विकार ढत्यारूढ तथा निर्विषय स्थितिरूपी परम गति देनेवाले वर्तमान सुअवसरको फिरके लिये अर्थात् किसी दूसरे क्षण, अवस्था या जन्मान्तरके लिये स्थगित करनेकी कल्पनाको भी असह्य मानता है। मनुष्य सत्यमिलनके लिये इसी वर्तमान क्षणमें पूर्ण उद्यम करे और उसे फिरके लिये टालनेको असह्य बना डाले, यही 'भक्तिकी अनन्यता' है।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

अर्थ—लौकिक वैदिक व्यापारोंमें न्यास (कर्ताहंबुद्धिके त्याग) के अनुकूल आचरण करना (अर्थात् कर्ताहंबुद्धिका त्याग हो जाना) ही उस (न्यास) के विरोधियोंमें उदासीनता हो जाना है।

भाव—कर्ताहं बुद्धिको मिटा देना ही 'न्यास' है। सुखेच्छा नामकी विषयवासना ही कर्ताहंबुद्धि या अहंकार है। विषयवासना ही कामक्रोध आदि कही जाती है। भक्त अपने स्वरूपमें इतना अधिक संतुष्ट है कि वह कामक्रोध आदिको अपने प्रतिपक्षी हो सकनेका गौरव भी देना नहीं चाहता। भक्त अपनी विचित्र स्थितिसे कामक्रोध आदिसे संग्राम किये विना ही उनका विजेता रहता है। मनुष्यकी सुखेच्छा अकर्ताहंबुद्धि रूपी न्यासकी उदारास्थितिका विरोध करनेवाला रिपु है।

लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारके व्यापार मनुष्यजीवनके

अत्याज्य और अनिवार्य कर्म हैं। मनुष्यको शरीरधारणके लिये तो प्राकृतकर्म करने ही पडते हैं और शरीरधारणके प्रयोजनको सफल करनेके लिये सदसद्विचारपूर्वक ज्ञानानुमोदित कर्म भी करने पडते हैं। ऐसे कर्मोंको करना भी 'कर्म' है, और इनसे विपरीत कर्मोंको त्यागना भी 'कर्म' है। कर्मोंको करने या त्यागनेके मूलमें जो भावना रहती है, उस भावनामें या तो न्यासकी स्थितिकी रक्षा होती है या उसका गला घोट दिया जाता है। जब मनुष्य भौतिक सुखेच्छाकी तृप्तिको जीवनका लक्ष्य बनाकर रूपरस आदि विषयोंके भोगोंमें आसक्त होकर कर्म करता हो, तब समझना चाहिये कि उसमें कर्ताहंबुद्धि मालिक बनी बैठी है और मनुष्यको मैं करनेवाला हूं, मैं भोगनेवाला हूं, इन दो रूपोंमें कर्मबन्धनमें फंसा कर 'न्यास' का गला घोट रही है।

परन्तु जब भक्तका सत्यनिष्ठ मन अपनी निर्विकार स्थितिकी रक्षा करनेमें दृढ रहता है, तब वह इन रूपरस आदियोंको उपेक्षणीय समझकर अपने निष्काम, अक्रोध, निर्लोभ, निर्मोह, निर्मद, तथा निर्मत्सर रूपका दर्शन करलेता है।

न्यासकी स्थिति विषयोंसे हार मानना नहीं जानती। न्यास स्वयमेव विजयिनी स्थिति है। भक्तोंमें न्यासकी स्थिति, विषयोंमें उदासीनताका रूप धारण करके रहती है। जैसे किसी सुरक्षित दुर्गका परकोटा दुर्गकी सेनाओंकी ओरसे शत्रुओंका विरोध करनेवाला बनकर, उनके शत्रुओंकी उपेक्षा करता रहता है; अथवा जैसे ताड, बेल या नारियल आदिके कठोर छिलके, इन फलोंकी ओरसे पक्षियोंकी चोंचोंकी चोटोंकी उपेक्षा करके, इन्हें खुले आकाशमें वृक्षोंकी शाखाओं पर सुरक्षित बनाये रहते हैं, इसी प्रकार भक्तोंके मनमें रहनेवाली "मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, राम ही सब कुछ हैं उन्हींका सब कुछ है" यह निर्मल तथा बलवती भावना, कामक्रोध आदि रिपुओंको दूरसे दूर भगाती रहती है।

जब कि 'मैं' ही नहीं रहा, तब हमारे लिये भोग्य पदार्थ कहां ह? ये जो रूपरस आदि भोग्य पदार्थ माने जाते हैं, ये हमारे भोग्य नहीं हैं। ये तो कामुक पुरुषोंके लिये ही कमनीय या भोग्य हैं।

जो कामुक नहीं है, उसकी दृष्टिमें इनका कोई महत्त्व नहीं है। जो कामुक नहीं है, उसके सामने इन रूपरस आदिका मूल्य तुच्छ धूलिकणसे अधिक नहीं है। जबकि हमारे मन वचन तथा कर्मसे जो कुछ होता है, उस सबका कर्ता अनन्त सच्चिदानंद परमात्मा अर्थात् हमारा निर्विकार अप्रभावित मन ही है, तब इस अवस्थामें सच्चिदानंद सागरका अमृतपूर्ण ज्ञानभंडार ही हमारे भोगने योग्य पदार्थ हो सकता है। इस अमृतपूर्ण ज्ञानभंडारका आस्वाद चख-लेना समग्र कल्पित स्वादोंकी उपेक्षा करनेका पर्याप्त कारण बन जाता है। भक्तहृदयमें सब समय इसी अमृतमय ज्ञानभंडारका स्वामी और सेवक, भोग्य और भोक्ता तथा भक्त और भज्यमान बने रहनेकी भावना जाग्रत रहती है। भक्तहृदयमें जाग्रत रहने-वाली यह भावना उसकी निर्विकार तथा निर्विषय स्थितिको सुर-क्षित रखती है। भक्तहृदयमें बसनेवाली यह भावना उसे उसके निरहंकार स्थितिरूपी न्यासके विरोधी विषयोंकी ओरसे उदास बनाये रहती है।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दृढनिश्चय हो जानेके पश्चात् 'शास्त्ररक्षण' हो।

भाव—अपनेको सत्यमें विलीन कर चुकनेकी दृढताके अनन्तर, मैं सत्यकी विधिका रक्षक बना रहूं, ऐसी कामनाका होना भक्त हृदयकी 'न्यासकी स्थिति' कहाती है।

हम करनेवाले नहीं हैं, हम सत्यके विना कुछ नहीं हैं, सत्यमें और हममें अभेदात्मक संबन्ध है, सत्य हमारा प्रभु है, हम उसके सेवक हैं, हम दोनों एक हैं, हमारे सत्यरूपी प्रभु जो कराते हैं वही हमसे होता है, सत्यस्वरूप भगवान् हमारी संपूर्ण जीवनयात्राके नियंता हैं; जब इस प्रकारकी दृढ, अभ्रान्त, निःसंशय मानसिक स्थिति बन जाती है, तब भक्तके मनका द्विधाभाव मिट जाता है। इस स्थितिमें पहुंच जानेपर भक्तहृदयमें निरंतर यही अभि-लाषा रहती है कि मेरे ऊपर सदा सत्यस्वरूप प्रभुका शासन रहे। इस स्थितिमें आजानेवाला भक्त–हृदय सत्यस्वरूप भगवान्का अटल सिंहासन बनकर, द्रष्टा होकर, यह देख देख कर तृप्त रहता

है, कि मेरे हृदयसाम्राज्यके एकच्छत्र सम्राट सत्यस्वरूप परमात्मा अपनी अनन्त शक्ति लेकर मेरे जीवनके सब लौकिक वैदिक व्यापारोंमें अपने अधिकारको सुप्रतिष्ठित रखनेका अखण्ड उद्योग कर रहे हैं।

जीवनमें सत्य प्रकट हो जाय, वह जीवनपर शासन करने लगे, और यों वह जीवनपर शासन करनेकी एक सुनिश्चित 'विधि' बन जाय, इसीको 'शास्त्र' कहा जाता है। जीवनकी प्रत्येक क्रियामें सत्यकी प्रेरणा और सत्यके शासनका विजयी हो जाना ही 'शास्त्रका सुरक्षित रहना' है। जिस जीवनमें 'शास्त्र' सुरक्षित है, जिस जीवनमें सत्यका शासन, सत्यस्वरूप शासककी अनन्त शक्तिको लेकर जीवनके क्षेत्रमेंसे असत्यरूपी अनधिकारीको हटा रहा है, अर्थात् जीवनमें असत्यके प्रवेशको असफल या व्यर्थ बना रहा है, उस जीवनमें असत्य केवल इसी काममें आता है कि वह पददलित होकर सत्यको गौरव देता रहे।

भक्तजीवनके लौकिक तथा वैदिक संपूर्ण व्यापारोंमें 'शास्त्र,' सुरक्षित रहता है और वह विषयरूपी असत्यको अपनी सीमामें नहीं घुसने देता। वह निरन्तर भक्तकी 'विषयोंसे वैराग्य' नामकी उदार स्थितिको अक्षुण्ण बनाये रखनेका उद्योग करता रहता है। यों भक्त-जीवनके छोटे बड़े सब कामोंमें 'न्यासकी स्थिति' विद्यमान रहती है। भक्त जीवनकी न्यासकी स्थिति 'कर्ताहंबुद्धिको न आनेदेनेकी दृढ-ता'का रूप धारण करके रहती है। वह सत्यको प्रकट करनेवाली होती है। वह असत्यरूपी विषयवासनाको दूरसे दूर भगाती रहती है और सत्यके शासनको पालती रहती है। यही कारण है कि 'न्यासकी स्थितिमें दृढता' तथा 'जीवनयात्रामें शास्त्रका सुरक्षित रहना,' भक्तजीवनके अनिवार्य स्वभाव बन जाते हैं।

अन्यथा पातित्याशंकया ॥ १३ ॥

अर्थ—निश्चय दृढ न होनेसे पतित (वैषयिक कर्मबन्धनसे बद्ध) होनेकी आशंका रहती है। इसलिये न्यासकी स्थितिमें दृढ हो जाना चाहिये।

भाव—हम करनेवाले नहीं हैं, यही संसारका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ सत्य है। यदि मनुष्य इस सत्यको भूल जायगा, और स्वयं ही करनेवाला बन बैठेगा

तो सुखेच्छा आयेगी, और उसके मनको विषयभोगोंके पीछे दौड़ायेगी। बताओ कि तब मनको विषयभोगोंके पीछे दौड़नेसे रोकनेवाली वस्तु क्या होगी? 'अकर्ताहंबुद्धि' ही विषयभोगोंके पीछे लगायी जानेवाली दौड़को रोकनेवाली एकमात्र वस्तु है। यदि मनुष्य इस महापराधसे बचना चाहे और सत्यका दर्शन करना चाहे तो उसे चाहिये कि वह अपनेको न्यास नामके समर्थ ईश्वरकी भेंट चढादे और विरोधियोंका विरोध करनेके लिये उससे बल प्राप्त करे। अपनेको भेंट चढादेनेका इससे अधिक और कोई अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य अपनेपास सुखेच्छाको न फटकने दे। सुखेच्छाको अपने पास न आनेदेनेका यही अभिप्राय है कि मनुष्य रूपरस आदिको उपेक्षणीय माने।

जिस समय न्यासकी स्थितिमें दृढता आजाती है, उस समय विषयोंकी उपेक्षा करना कठिन काम नहीं रहता। विषयोंकी उपेक्षा करना तब तक ही कठिन होता है, जब तक न्यासमें दृढता नहीं आती। न्यासकी स्थितिके दृढ होजानेपर विषयोंकी उपेक्षा करना मनुष्यका स्वभाव बनजाता है। विषयोंके प्रति उपेक्षाभावका जाग जाना ही 'विषय वैराग्य' है। भक्त जीवनमें रहनेवाला यह 'विषय वैराग्य' ही सत्यको प्रकट करनेवाला होता है। सत्यका प्रकट रहना-ही सच्चा 'शास्त्र' है। न्यासकी जिस स्थितिके आजानेपर भक्तजीवनमें सत्य स्वभावसे प्रकट होजाता है, वही यदि दृढ न होगी तो मनुष्य अवश्य ही विषयलोलुपतारूपी गर्तमें जा पड़ेगा।

न्यासकी स्थिति स्वभावसे ही दृढ होती है। न्यास भी हो और वह अदृढ (कच्चा) भी हो, ऐसा होना त्रिकालमें भी संभव नहीं है। यदि अपने जीवनमें सत्यको प्रकट रखना चाहते हो तो सत्यसे भेदभाव रखनेवाले 'अहं' को मिटा डालो। इस अहंको मिटा देना ही 'न्यास' है। जब 'अहं' को मिटा चुकोगे तब ही तुम्हें सत्यको जीवनमें प्रकट हुआ देखनेका सौभाग्य मिलेगा। अपने 'अहं'को भी सुरक्षित रखना और सत्यका भी मुखदर्शन करना यह संसारकी असंभव घटना है। न्यासकी स्थितिमें दृढ न होना भी वही बात है और न्यासकी स्थितिको सर्वथा न छूना भी वही बात है। जो

पुरुष न्यासकी स्थितिका थोडासा स्पर्श भी करलेगा, वह देखेगा कि वह न्यासकी स्थितिमें दृढ है। वह देखेगा कि वह न्यासकी स्थितिको सुरक्षित रखनेवाला सुदृढ दुर्ग बन गया है। इस दृष्टिसे न्यासकी स्थितिमें दृढ होना और न्यासकी स्थितिको अपनाना दोनों एक बात हैं। इसप्रकारकी न्यासकी सुनिश्चित अवस्थाको अपनानेवाले मनुष्य ही 'भक्त' कहानेके अधिकारी हैं। जो मनुष्य न्यासकी स्थितिमें दृढ नहीं है वह निश्चय ही भक्तिकी सीमासे बाहर है। वह निश्चय ही भक्तिहीनता रूपी पतित तथा भोगपरायण असत्यके अज्ञानान्धकारमें डूबा हुआ है। कोई पुरुष तब ही 'भक्त' बन सकता है जब कि वह भक्तजीवनकी अत्यावश्यक संपत्ति इस 'न्यास' की स्थितिको कभी न छोड़नेका दृढ हठ रखता हो। जिस पुरुषके पास न्यासकी स्थितिके लिये दृढता नहीं है, उसके अवश्यंभावी पतनको रोकनेवाला इस संसारमें कोई नहीं है।

तात्पर्य यही है कि भक्ति ही 'न्यास' है और न्यास ही 'भक्ति' है। न्यास नहीं तो भक्ति नहीं; और भक्ति नहीं तो न्यास भी नहीं। हम कुछ नहीं, हमारा कुछ नहीं, सत्य ही हमारे जीवनके कर्ता धर्ता आदि सब कुछ हैं; इस दृढ भावनाका और इसी भावनाके अनुकूल अपना आचरण रखनेका नाम ही 'भक्ति' है।

मनुष्यकी विषयभोगकी इच्छा भी पूरी होती रहे और भगवान् भी उसके अपनाये हुए बने रहें, इस प्रकारके अज्ञानबन्धनमें फांस रखनेवाली विषयवासना रूपी राक्षसीके साथ समझौता करके भक्ति-सुधाके विमल रसका आनन्द लेसकना सर्वथा असंभव है। ईश्वर और विषयवासनाका सहवास या समझौता चाहना मनुष्यके पतनकी अवस्था है। यदि मनुष्य अपनेको इस पतनकी अवस्थासे दूर रखना चाहता हो तो उसे न्यासकी स्थितिमें दृढ होजाना चाहिये।

जहां न्यासमें दृढता न हो वहां निश्चय ही भक्ति नहीं है। जहां विषयभोगोंकी या विषयोपार्जनोंकी मनोवृत्तिसे समझौता किया जाता है और भगवान्‌की भक्ति करनेकी विडम्बना भी की जाती है, वहां पातित्य हो चुका है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

लोकोपि तावदेव, किन्तु भोजनादि-
व्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

अर्थ—लोकबन्धन भी तब ही तक (दृढनिश्चय न होने तक) रहता है; किन्तु भोजनादि व्यापार तो शरीरधारण पर्यन्त चलता है।

भाव—जब जीवनमें सत्यका शासन निश्चित रूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है तब पातित्यकी शंका मिटजाती है। वैषयिक कर्मबन्धन ही पातित्यका स्वरूप है। वैषयिक कर्मबन्धनके साथ न्यासकी स्थितिका निभाव नहीं होता। जिस मनमें इस प्रकारकी चाहका जन्म हो चुका है कि "हम विषयको नहीं चाहते, हमारी चाह विषयोंसे मिटनेवाली चाह नहीं है, हमारी चाह विषयोंसे अतीत बने रहनेकी है" वह मन अपने आपको मिटा चुका है। अपनेको मिटानेका बड़ा भारी महत्त्व है। अपनेको मिटानेवाला मन अपनेको मिटाकर टोटेमें नहीं है। वह सत्यको अपनाकर सत्यस्वरूप हो चुका है। इस प्रकारकी न्यासकी उदार स्थितिमें अपनी सुखेच्छारूपी विषयकामनाको बलिदान करके, सत्यके शासनमें रहना स्वीकार कर लेनेवाला भक्तहृदय, अपनेपास वैषयिक कर्मबंन्धनमें बंधकर पतित होनेकी आशंकाको नहीं फटकने देता। न्यासशील भक्तके जीवनकी सब क्रिया अभ्युत्थानकी स्थितिकी रक्षा करनेवाली बन जाती हैं। न्यासशील भक्तजीवनमें वैषयिक कर्मोंका नाम या चिन्ह तक नहीं रहता। भोगेच्छाका आज्ञाकारी बनकर रूपरसआदि विषयोंके उपार्जन या प्रतीक्षामें लगे रहना ही 'वैषयिक कर्म' कहाता है। विषयोंका उपार्जन और विषयोंकी प्रतीक्षा दोनों भक्तजीवनकी असंभव घटना हैं। जिस क्षण भक्तजीवन प्रारम्भ होता है, उसी क्षण विषयोंकी भूक मिट जाती है। भक्तिसुधा ही भक्तजीवनका खाद्य पदार्थ रह जाता है। भक्तका स्थूलदेह उसके चिन्मय देहका अनुगामी बन जाता है। तब वह जो कुछ आहार ग्रहण करता है, सत्यके शासनके अधीन रहकर संगृहीत किया हुआ होनेसे वह भी अमृततुल्य, विषयातीत, भोगेच्छामुक्त, तथा पवित्र भक्तजीवनके संपूर्ण आचरणोंका एक अंग बन जाता है। जब तक भक्ति करनेके लिये धारण किये हुए शरीरका स्वाभाविक अन्त नहीं आता, तब तक भक्तजीवनमें भोजनादि व्यापार निरन्तर चलते रहते हैं। भक्तका शरीर, शरीर

नहीं है। वह तो भजनका साधन है। वह तो भजनमुखर भजन-मन्दिर है। इस शरीरकी रक्षा करना भजनसे पृथक् कार्य नहीं है। इस शरीरकी रक्षा भी भक्तजीवनका भजन है। जब शरीरका स्वाभाविक अन्त होने लगता है अर्थात् जब स्थूलदेहसे संबन्ध रखने-वाली भक्तजीवनकी भक्तिलीलाका अन्त आता है, उस समय भक्त हृदयसे भोजनादिकी इच्छा हट जाती है।

परन्तु विषयबन्धनमें फंसे हुए मनुष्यके मनमेंसे रूपरस आदि-विषयोंकी इच्छा कभी नहीं हटती। विषयवासना विषयरूपी वृश्चिकोंके डंकोंसे छेदेहुए विषयी हृदयको अन्तिम चेतनातक सताती है। इसप्रकारकी विषयवासनाका दास बना हुआ कोई भी पुरुष सांसारिक कर्मबंधनको तब तक नहीं टाल सकता, जबतक कि वह 'न्यास' की स्थितिको न पा ले और सदाके लिये विषयवासनाका अन्त न करडाले। जिस हृदयकी विषयवासना न्यासकी स्थितिमें पहुंच जानेसे सदाके लिये मिट जाती है, वही हृदय 'भक्तोंका हृदय' कहाता है। भक्तलोग उस हृदयको लेकर अपने अमृतास्वादी संपूर्ण भक्तजीवनमें विषयोंके संबन्धसे रहित बने रहते हैं। जीवनभर विषयोंके संबन्धसे रहित बने रहनेवाले भक्तलोग अपने जीवनमें त्यागकी जिस अक्षीण-धर्मा आनन्दलहरीका उपभोग करते हैं, वह आनन्दलहरी उनके पास अन्तिम श्वासतक उपस्थित रहती है। वे लोग भक्तिके लिये धारण किये हुए शरीरकी रक्षाके लिये किये जानेवाले भोजनादि व्यापारोंमें लेशमात्र भी आसक्त नहीं होते। वे भोजनादि व्यापारोंमें आसक्त न होकर निष्काम, निर्विकार और निर्मल स्थितिमें रहते हुए ही इस स्थूल शरीरके जीवनके दिन बिताते हैं। न्यासकी स्थितिको अप-नानेवाले भक्तजीवन भोजनादिव्यापारोंमें भी भोगत्यागीकी स्थितिको अपनाये रहते हैं। इस न्यासकी स्थितिमें त्यागसे पवित्र किये हुए जीवनको अपनानेका गूढरहस्य छिपा हुआ है।

जब तक मनुष्यमें न्यासकी स्थिति नहीं आती तब ही तक उसपर विषयवासनाका अधिकार चलता है। विषयवासना न्यासकी स्थिति न आनेतक ही मनुष्यको सांसारिक कर्मबन्धनमें फंसा सकती है। जब न्यासकी स्थिति आजाती है, तब संपूर्ण जीवनमें त्यागकी अपूर्व

महिमा प्रगट होजाती है। तब वह जीवन, प्रदीप्त जीवन, तेजस्वी जाज्ज्वल्यमान जीवन और आनन्दी जीवन बनजाता है।

न्यासकी स्थितिमें कर्मबन्धनसे मुक्त रहनेके लिये कर्म करना आवश्यक होता है। इसमें कर्मका अन्त कभी नहीं होता। उसमें केवल सांसारिक कर्मबन्धनका अन्त होता है। क्योंकि सांसारिक, वैषयिक कर्म ही कर्मबन्धनमें डालनेवाले होते हैं। इस कारण उस बन्धनसे मुक्त (बचे) रहनेके लिये कर्म करते समय न्यासकी स्थितिको अपनाये रहना आवश्यक है, और वही 'भक्तजीवनका प्राण' माना गया है। न्यासकी स्थिति न हो तो मनुष्यको बन्धनमुक्त भक्तजीवन अप्राप्त रहता है। सुखेच्छा या कर्ताहं बुद्धिनामका बन्धन, कर्मको शुद्धकर्म नहीं बनने देता। वह कर्मको वैषयिक या सांसारिक कर्म बना देता है। ऐसा कर्म भक्तकी दृष्टिमें त्याग करने योग्य 'अस्पृश्य कर्म' होता है।

भक्तजीवनके अन्तिम क्षणों तक भोजन आदि व्यापार भजनके साधनके रूपमें ही स्वीकृत होता है। भक्तके भोजन आदि भी भजन ही होते हैं। भक्तने भोजनादिको भी भजनका रूप देनेके लिये ही भक्त-देह धारण किया है। मनुष्यने जिस कर्मको करनेके लिये भक्तदेह धारण किया है, उसीको त्याग बैठनेका कोई अभिप्राय नहीं है। भक्तको भक्तलीला करनेके लिये शरीरकी रक्षा करनी पड़ती है। शरीरकी रक्षाके लिये भक्तका भोजन आदि करना भी आवश्यक होता है। जिस प्रकार भक्तको निःस्पृहभावसे भोजन आदि करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार उसे भक्तलीलासे संबन्ध रखनेवाले और भी सब कर्म निःस्पृहभावसे अवश्य करने पड़ते हैं। भक्तमनुष्य सत्यके साथ अपने भक्तिनामके संबन्धको सुदृढ बनाये रखनेके लिये सांसारिक (वैषयिक) कर्मबन्धनोंको छोड देता है। वह जैसे भक्तदेहधारण किये रहनेके लिये भोजनादि व्यापार करता है उसी प्रकार भक्तदेहधारण करनेके महत्त्वपूर्ण अभिप्रायको सिद्ध करनेके लिये, अथवा अपने जीवनमें सत्यके शासनको विजयी बनाये रखनेके लिये, संपूर्ण कर्मोंको कर्ताहंबुद्धिसे रहित होकर करता है और अवश्य करता है।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

अर्थ—अब नाना मतभेदके अनुसार उस भक्तिके लक्षण कहे जाते हैं।

भाव—भक्तिका एक ही लक्षण है। वह एक लक्षण स्थूल दृष्टिसे देखने पर अनेकसा प्रतीत होता है; इसीको 'भक्तलीला' कहते हैं। भक्तिकी स्थितिकी रक्षा करनेवाला, भक्तहृदयोंमें सदा जागरूक रहनेवाला, भक्त जीवनोंमें सर्वत्र पाया जानेवाला, जो एकमात्र लक्षण सब भक्तोंमें होना चाहिये वह केवल 'न्यासकी स्थिति' है। भक्त सबसे पहले अपने आपको मिटा देता है, और फिर अपने बाह्य जीवनकी भक्तलीला करनेमें रम जाता है। भक्तोंका यह बाह्य जीवन ही मनुष्योंको नाना रूपोंमें दीखता है। इसीको 'भक्तोंका कर्ममय जीवन' कहते हैं। कर्मबन्धनसे मुक्त रहनेवाले भक्तोंका संपूर्ण कर्ममय जीवन 'जगत्की असाधारण घटना' होती है। कर्मबन्धनोंसे मुक्त रहनेवाले भक्त लोग, जगत्में आस्वाद लेने योग्य लीलामृतके रूपमें, अवतीर्ण होते हैं। अव्यभिचारिणी भक्ति ही संपूर्ण भक्तलीलाओंका आधार होती है। भक्तलीलाओंमें ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहानेवाली उदार मनोदशाका पुण्यदर्शन मिलता है। भक्त अपने सब बाह्य कर्मोंमें अपने मनकी निरहंकार स्थितिकी रक्षा करता है। भक्तकी निरहंकार स्थितिका यही स्वरूप है कि 'हम करनेवाले नहीं हैं। सत्य ही हमारे जीवनके नियन्ता हैं। वे अपने आप ही हमारे संपूर्ण कर्मोंमें अपनी रक्षा कर रहे हैं। वे अपने आप ही कर्मबन्धनोंसे मुक्त रहकर अपनेको विजयी रख रहे हैं'। इस प्रकारकी निरहंकार स्थिति रखनेवाला भक्त अपने जीवनको सब प्रकारके पातित्यकी शंकाओंसे बचाकर रखता है।

संसारमें अनन्त कर्म हैं। इन अनन्त कर्मोंके कर्मबन्धन भी अनन्त हैं। ये अनन्त बन्धन अनन्त वासनाओंसे उत्पन्न होते हैं। विषयवासनाओंका भी कोई अन्त नहीं है। ये अनन्त विषयवासनायें विषयी जीवनोंको क्षणिक सुखदुःखों और क्षणिक तृप्ति अतृप्तियोंके विविध परिवर्तनोंमें तेलीके बैलके समान घुमाती रहती हैं। विषयी जीवनोंकी यह विविधताकी मांग उनको चंचल बनाये रहती है। विषयी जीवनोंके कर्मबन्धन विषयी पुरुषोंको लोक व्यापारों, सांसारिक कर्मों या वैषयिक कर्मबन्धनोंके साथ बांधकर पतित होने के लिये ललचाते रहते हैं। भक्त जीवनोंमें इस प्रकारके पतित

करनेवाले कर्मबन्धन देखनेको भी नहीं मिलते। भक्त तो समझते हैं कि 'हम करनेवाले नहीं हैं; हम भोगनेवाले नहीं हैं; यह देह हम नहीं हैं; यह देह हमारा नहीं है। जिन अभिप्रायोंको सिद्ध करनेके लिये भोजनादि किये जाते हैं, वे सब अभिप्राय केवल सत्यसे पूरे होते हैं'। सत्यको ही अपने संपूर्ण जीवनका एक मात्र अधिकारी बनाये रखनेवाली, अपरिवर्तनशील, विषयातीत मानसिक स्थिति, भिन्नभिन्न बाह्य परिस्थितियोंके अनुसार नाना प्रकारकी सी हो होकर, भक्तोंके बाह्य जीवनोंको मधुर बनाती रहती है। उस मधुरिमाका दर्शन कर लेना ही 'भक्तिको पहचान जाना' है। भक्तके मानसमें जो भक्तलीला होती रहती है, उसके वचन और कर्ममें उससे विपरीत कोई काम नहीं हो सकता। चाहे भक्त जीवनके मन–वचन–कर्म दीखनेमें नाना रूपवाले दीखें, तब भी वे अपनी एकता, अपनी अपरिवर्तनशीलता, और अपनी अविकारिताकी रक्षा करनेमें ही लगे हुए होते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

अर्थ—पूजा आदि (भगवदर्पण कर्मों) में अनुराग ही 'भक्ति' है, ऐसा **व्यासदेव**का मत है।

भाव—पूजा आदियोंमें अनुराग रखना अर्थात् अपने संपूर्ण कर्मोंको अपने आराध्य सत्यस्वरूप परमात्माके प्रसादके लिये निवेदित कर देना ही 'भक्ति' है, ऐसा **व्यासदेव** मानते हैं। पूजा अपने प्रभुकी ही होती है। जिसका जो आराध्य है, वह उसीकी पूजा करता है। पुजारी पूजाके उपकरणोंका संग्रह करके, उन सबको अपने आराध्य भगवान्‌को देता है। वह इस भावनाको लेकर दान करता है कि "हे भगवन्! आज मैं तुम्हारी वस्तु तुम्हारी ही सेवामें लौटाकर अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त कर रहा हूं, जिसने मुझे आज तक इन पदार्थोंके ममतारूपी अज्ञानबन्धनमें बांध रखा था। आज तुम्हारी वस्तु तुम्हें ही सौंपकर, मैं भी तुम्हारा ही बना रहकर, अपने अस्तित्वको सफल कर रहा हूं। आज मैंने तुमसे पृथक् होकर किसी वस्तुको अपना कहनेके अधिकारको अनधिकार समझ लिया है। आज मैं मालिक बनना छोडकर स्वयं ही तुम्हारे अधिकारमें आगया हूं"। ये सब उदार भाव ही 'पूजा' कहे जाते हैं।

भक्तजीवनके संपूर्ण कर्म, तथा उन कर्मोंको करते रहसकनेके अभिप्रायसे शरीर धारणके लिये कियेजानेवाले भोजनादि सब व्यापार 'ईश्वर पूजा' का रूप धारण करलेते हैं। भक्तजीवनमें देहधारणके अतिरिक्त 'भोग' नामकी कोई अवस्था नहीं रहती। इस संसारके जो पदार्थ शरीररक्षाके लिये भक्तके भोजनादिके उपयोगमें आते हैं, वे सब प्रकृतिके हाथोंसे बनाये हुए पत्ते, फल या जल आदिके रूपमें होते हैं। जब भक्त इन्हें ग्रहण करता दीखता है तब भी वह स्वयं (अपनी दृष्टिमें) इनका ग्रहीता नहीं बनता। भक्तलोग सत्यस्वरूप भगवान्को अपना आराध्य बनालेते हैं। वे उसे अपने हृदयसाम्राज्यके सम्राट्के सिंहासनपर बैठालेते हैं और उन्हींके प्रीत्यर्थ, उन्हींके अधिकारमें रहकर, उन्हींके पदार्थोंको, उन्हींकी सेवामें समर्पित करते रहते हैं। वे अपनेको उन पदार्थोंके बन्धनोंसे मुक्त बनाये रहते हैं। वे उन पदार्थोंको ग्रहण करनेपर भी स्वयं उनके भोक्ता नहीं रहते। वे उन सब पदार्थोंको उनके वास्तविक भोक्ता सत्यके प्रसादके रूपमें ग्रहण करके, 'प्रसादजीवी' बनकर, अपने आपको मिटा चुके होते हैं। भक्तजीवनका देहधारण भी 'सत्यकी पूजा' हो जाता है। सत्यकी प्रीतिके लिये (सत्यके निर्मल रूपके दर्शनके लिये) किये गये सबके सब कर्म या जीवनव्यवहार एक 'लम्बी पूजा' बनजाते हैं। जब कि भक्तोंका शरीरधारण भी 'पूजा' ही हो जाता है, तब उन्होंने जिस कामके लिये शरीर धारण किया है, वह क्या पूजासे भिन्न वस्तु रह सकता है? यों **व्यास**जीके कथनानुसार भक्तोंके जीवन विराट् सत्यकी आठोंप्रहर चलनेवाली 'अखण्ड पूजा' बन जाते हैं।

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

अर्थ—कथा आदियोंमें अनुराग (अपने संपूर्ण जीवनमें सत्यवाणीके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, मनन तथा अनुसरणमें अनन्य प्रेम) रखना 'भक्ति' है, ऐसा **गर्ग**जीका मत है।

भाव—सत्यकी वाणी, अपने भीतर विवेकके कानोंसे सुननेकी वस्तु है। वह वाणी सत्यकी पूजा करनेवालेको अपने अन्तरमें सुनाई देती है। जो वाणी जिह्वासे प्रकट होती है, उसकी सूचना सबसे प्रथम मनमें आती है। जिसका जिस वस्तुकी कथामें अनुराग होता है, वह अनु-

रागकी वस्तु पहलेसे ही उसके हृदयमें स्थान बनाकर बैठी रहती है। जिस हृदयमें सत्यकी वाणीके लिये अनन्य अनुराग है, निश्चय है कि उसमें असत्यके लिये तिलमात्र भी स्थान नहीं है। अपने संपूर्ण जीवनमें सत्यकी वाणीको सुरक्षित रखनेका दृढ अनुराग ही 'अव्यभिचारिणी भक्ति' है।

ऐसी भावनाको लेकर शरीर धारण किये रहनेवाला भक्त जो कुछ कर्म करता है, उसमें सत्यकी वाणीका प्रकट होना अनिवार्य होता है। भक्त यही चाहता है कि मैं अपने कानोंसे सत्यके विना दूसरी कोई ध्वनि न सुनूं। जब कि सुनानेवाला भी सत्य ही हो तब सुननेवाला सत्यका अनुगामी हुए बिना कैसे रहे? जब कि श्रवणेन्द्रियने सत्यको ही अपना स्वामी जानलिया और जब कि वह सत्यकी आज्ञा सुननेके लिये प्रत्येक समय उत्कर्ण रहने लगी, तब क्या इन आज्ञाओंका पालन करनेवाले चक्षु, जिह्वा, हस्त, पाद आदि किसी दूसरेके आज्ञाकारी बनना सह सकते हैं? सत्यके अनन्यसेवकका भक्त हृदय अपनी संपूर्ण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे सत्यकी सेवा करते रहनेका अखण्ड व्रत धारण कर लेता है। वस्तुतः भक्तके जीवनमें असत्यवाणी सुननेका अवसर कभी नहीं आता। यहां तक कि बाह्य असत्य भी भक्तको 'आन्तर सत्य' सुनानेवाला विरोधात्मक साधन बन जाता है। ज्यों ही भक्तके कानोंमें कोई असत्य वाणी पडती है, त्यों ही उसका हृदयवासी सत्यनारायण उसके हृदयमें उसका विरोध करनेवाले सत्यको प्रतिध्वनित करने लगता है। ऐसी परिस्थितिमें भक्त असत्य वाणीको सुने तो कैसे सुने? भक्तलोग वैषयिक कर्मबन्धनोंसे रहित होकर सत्यके सेवक बनजाते हैं। भक्तजीवनमें देहधारणके लिये किये जानेवाले भोजनादि व्यापार तथा भोजनादि व्यापारोंसे सिद्ध होनेवाले सब कर्म, सत्यका विजयडिण्डिम बजाते रहते हैं। भक्तकी आखोंमें असत्यको विदीर्ण करनेवाली विद्युत् उत्पन्न होजाती है। जब किसी पदार्थसे भक्तकी आंखोंका संबन्ध होता है तब वे आंखें उस पदार्थके बाह्यरूपके पास अटककर खडी नहीं होतीं। किन्तु वे उसके भीतर घुसकर उसके आधार सत्य तक पहुंचती हैं। वे वहांसे भक्तको यही संदेश लाकर सुनाती हैं कि

हे भक्त! हम इस अनन्तभेदभरे संसारमें केवल सत्यका ही सार्वत्रिक दर्शन करती हैं। जब भक्तकी वाणी किसी शब्दको बाहर निकालती है तब वह सत्यकी ही महिमाको गाती है। भक्तकी रसना जिस-किसी रसका स्वाद लेती है, उसे सत्यका दिया हुआ अमृतमय प्रसाद जानकर सत्यकी महिमाका ही प्रचार करती है। भक्तके हस्त पाद आदि जो कुछ कर्म करते हैं वे भक्तको सत्यसे मिलानेका आनन्दोत्सव मनाकर, भक्तजीवनको धन्य बनाते रहते हैं। यों भक्तजीवनके संपूर्ण कर्म, भक्तके लीलामृतका महागान करनेवाली 'कथा' बनजाते हैं। दिव्य कानोंसे सुनाई देनेवाली ऐसी कथामें ही भक्तोंका अनन्य अनुराग होता है। यह दिव्य अनुराग ही 'भक्ति' है। इस अनुरागसे भिन्न भक्ति नामकी कोई वस्तु संसारमें नहीं है। ऐसे दिव्य कीर्तन और ऐसे दिव्य श्रवणमें अनुराग नामकी सच्ची पूजासे भिन्न भक्तिनामका कोई पदार्थ पृथिवीतलपर नहीं है। **गर्ग** आचार्यके मतसे यही भक्तिके स्वरूपका वर्णन है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

अर्थ—आत्मरतिके अविरोधसे जिस मानसिक स्थितिकी रक्षा होती है, वही 'भक्ति' है (अर्थात् अनात्म विषयोंकी उपेक्षाबुद्धि ही भक्ति है) ऐसा **शाण्डिल्य**का मत है।

भाव—जब कि परमात्मतत्त्वसे प्रेम करनेवाली भक्ति बाह्य संसारमेंसे अपने प्यारेका दर्शन करनेकी स्पृहाको त्याग चुकती है और अपने निरन्तर साथी सत्यतत्त्वका दर्शन कर चुकती है, तब परमात्माके अतिरिक्त इस विश्वके संपूर्ण पदार्थ अग्राह्य बनजाते हैं, और भक्तको आत्मस्थ रहना आजाता है। तब भक्त अपने प्यारेसे कभी विच्छिन्न न होने रूपी अपने 'स्वधर्म'को पहचान लेता है। अपने स्वधर्मको पहचान लेनेपर मनुष्यको आकृष्ट कर सकनेवाला पदार्थ संसारमें नहीं रहता। जब मनुष्य अपनी रतिके आधारको अपनेमें ही केन्द्रीभूत पालेता है, तब आत्मरति नामवाला अपना स्वरूप उसके ज्ञाननेत्रके सामने आकर खडा होजाता है। आत्मरति ही भक्तिका प्राण है। भक्तिमें पररतिका होना असंभव है। रूपरस आदि जितने पदार्थ मानवमनको आकृष्ट करनेवाले समझे जाते हैं, भक्तके ज्ञान-

नेत्रके सामने आते ही उन सबका आकर्षकपना लुप्त हो जाता है।

रूपरस आदि विषयोंको अपना भोग्य बनाना, अपनी भक्ति नामकी स्थितिकी हत्या करना है। इसीको 'अनात्मवस्तु (अपने स्वरूपसे भिन्न मिथ्यावस्तु) में आकृष्ट होना' कहते हैं। भक्तिका और रूपरस आदि विषयवासनाका आगपानीका सा वध्यघातक संबन्ध है। जिस मनमें विषयवासना है, उसमें भक्तिकी कल्पना केवल धोका है। जहां भक्ति है वहां रूपरस आदि विषयकामनाका रहना असंभव है। रूपरस आदि विषय, भक्तमनके चोर नहीं रहते। भक्तके मनको दीखनेवाले रूपरस आदि विषय उसकी सत्यमयी स्थितिको प्रज्वलित करदेनेवाले साधनके रूपमें काममें आने लगते हैं।

विषयवासनाके साथ विषयोंका तृप्तिका संबन्ध नहीं है। किन्तु अतृप्तिका संबन्ध है। विषयवासना ही इन रूपरस आदि समझे जानेवाले पदार्थोंको रूपवान् या रसवान् मनवाती है। विषयवासना ही मनुष्यको रूप या रसके आहरणका भ्रमपूर्ण उद्यम करनेके लिये ललचाती है। वह कभी कभी रूपरस आदिको पानेमें सफल भी हो जाती है। वह इस कभी कभीकी सफलतासे ही अपने आपको कभी न बुझनेवाली दावानलके रूपमें प्रज्वलित रखती है। रूपरस आदि विषय ही इस सदा प्रज्वलित रहनेवाले विषयवासनारूपी दावानलके ईंधन होते हैं। रूपरस आदि रूपी ईंधन इस दावानलकी ज्वालाओंको प्रज्वलित रखते हैं।

संसारके रूपरस आदि भोग्य पदार्थ अनेकवार क्रमसे आते हैं, और मनुष्यके विषयाग्निसे झुलसे हुवे हृदयपर तृप्तिनामके शान्ति रूपी जलका सिंचन करनेमें असफल हो होकर, अनन्तवार उसे त्याग त्याग कर चले जाते हैं। वे विषयोंके भूके हृदय भस्मकरोगीके समान ज्योंके त्यों भूके ही रह जाते हैं। विषयोंकी भूक सर्वग्रासी भूक है। इस सर्वग्रासी भूकको मिटा देनेकी कला 'भक्ति' कहाती है।

जहां भूक है वहीं 'भक्ति' है। भूकमेंसे ही यह रूपरसवाली अनन्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। रूपरसादिकी भूकको मिटा सकनेवाली 'भक्ति' ही इस सृष्टिको रचनेवाली है। सृष्टिको रचनेवाली भक्तिने अपने ही स्वाभाविक कर्तापनसे, अपने ही प्रयोजनसे इस विश्वकी रचना की है। इस संसार पर 'भक्ति' रूपी भूकका एकच्छत्र आधिपत्य है। जब वह इस संसारमें अपनी महीयसी, अटल, गौरवमयी, अप्रभावित-स्थिति नामके मानव हृदयमें आकर वहां अपना आसन जमा कर बैठती है, तब अपनी भूक मिटाती है और शान्तिके अनन्त सागरमें डुबकी लगा कर, ज्ञानमय आत्मस्वरूप मणिमुक्ता बटोरनेमें लगी रहती है। इस शान्तिसागरमें निमग्न रहना भक्तोंका कुलधर्म होता है।

यह भक्ति अपनी शान्तिकी भूकको मिटानेके लिये पहले तो रूपरस आदि विषयोंकी सृष्टि करती है, फिर उन विषयोंकी उपेक्षा (त्याग) कर करके अपनी शान्तिकी भूकको मिटाती है। उपेक्षा और त्यागके अतिरिक्त मनुष्यकी शान्तिकी भूकको मिटानेका दूसरा कोई साधन इस संसारमें नहीं है। इस मानव हृदयमें जो भक्तिका विरोध करनेवाली विषयवासनारूपी आग सुलगायी गयी है, वह अमृतके पथदर्शक त्यागके कौशलको प्रकट करनेके लिये ही सुलगायी गयी है। आठों प्रहर इस आगसे खेलते रहना ही 'भक्त हृदयकी भक्तिलीला' है।

ज्यों ही भक्तकी इन्द्रियोंका रूपरस आदिके साथ संबन्ध होता है, त्यों ही उसके मनमें उपेक्षाको उत्तेजित करनेके लिये विषयवासना जाग उठती है। भक्तको विषयवासनाके उठते ही उपेक्षारूपी अस्त्र चलानेका अवसर हाथ आ जाता है। उसके उपेक्षारूपी अस्त्रकी सब चोट विषयवासनापर ही पड़ती है। आत्मतत्त्वमें अरतिका अवसर हो और उसका दमन कर डाला जाय तब ही आत्मरतिका दर्शन हो सकता है। जगत्के स्रष्टा जिस आत्मस्थितिको पानेके लिये और जिस अखण्ड स्मृतिका आनन्द लेनेके लिये, देहधारण करते हैं, उस अखण्ड स्मृतिकी रक्षा करनेका साधन 'भक्ति' ही है। विषयवासना इस भक्तिको प्रकट करनेवाला विरोधात्मक साधन है। विषयवासना जीवकी अनुचारिणी शक्ति कही जाती है। वह रूपरस आदियोंको

भक्तके सामने काम्यरूपमें उपस्थित करती है, और इस दुःसाहसको करके अपनेको ही लांछित तथा विडम्बित कर लेती है। विषयवासना आती है, और भक्तके हृदयमें उपेक्षा (या त्याग) को उत्तेजित करके उसकी 'भक्ति' को विजय-गौरव दे जाती है। विषयवासनाकी रचना ही कुछ ऐसी है, कि यह उपेक्षित होकर ही भक्तिका दर्शन कराती है। जो मनुष्य विषयवासनाकी उपेक्षा नहीं कर सकता, उसे भक्तिका दर्शन भी नहीं होता।

जब विषयवासना विषयोंको भक्त मनके सामने लाकर खड़ा करती है, तब उस हृदयमें सदा डटकर बैठी रहनेवाली अप्रभावित मानसिक स्थितिरूपी 'भक्ति,' उस विषयवासनाको डाटनेके लिये बाहर आकर खड़ी हो जाती है। वह आती है और अपनेको सत्य स्वरूपसे मिली रखकर, इस जगत्की सत्यसे भिन्न सब दूसरी सत्ताओंका, अपनेको आकृष्ट या मोहित करसकने योग्य होना, अस्वीकार कर देती है। वह किसी भी विषयकी ठगईमें आकर अपने अद्वैत सिंहासनसे एक पैर भी नीचे उतरना स्वीकार नहीं करती। विषयवासना, जिन रूपरस आदिको, मनुष्यको आकृष्ट करनेवाली आकर्षणी शक्ति उधारी देती है, वह 'भक्ति' उनसे उसी उधारको छीन लेती है। रूपरस आदिमें जो विश्वको मोहित करनेवाली अज्ञानमयी काल्पनिक आकर्षणी शक्ति है, उसे छीनलेनेको ही 'विषयोंकी उपेक्षा' 'आत्माकी रति' या 'भक्ति' कहा जाता है। इससे भिन्न भक्ति नामकी कोई स्थिति संसारमें नहीं है। ऐसा '**शाण्डिल्य**' का मत है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलेतेति ॥ १९ ॥

अर्थ—मनवचनकर्मसे अपने संपूर्ण आचरणोंको सत्यमें समर्पित कर देना तथा अपने आचरणोंमें अपने आराध्य सत्यको कभी विस्मृत न होने देनेकी तीव्र लगन रखना 'भक्ति' है, ऐसा **नारदजी**का मत है।

भाव—भक्तिका दर्शन करने, उसको जानने और भक्त बनजानेमें कोई अन्तर नहीं है। यह आत्मतत्त्वनामका विराट् देही भक्तिका दर्शन करनेवाले संपूर्ण साधनोंको, भक्तिको जाननेकी संपूर्ण शक्तिको, तथा

भक्त बननेके स्वभावको लेकर ही भक्तदेह (मानवदेह) धारण करता है। भक्ति ही मनुष्यहृदयकी प्यास बुझानेवाला अमृतभंडार है। इस अमृतका पान करनेकी शक्तिका उत्स (मूलझरना) भक्तिमेंसे ही प्रवाहित होता है और भक्तकी चक्षु, कर्ण, जिह्वा, हस्त, पाद आदि इन्द्रियोंको भी अमृतके आहरणकी शक्ति देकर इन्हें भी क्रियाशील कर देता है।

कर्म किये बिना सृष्टिकी कोई सार्थकता नहीं है। कर्मशक्तिका प्रकट होजाना ही 'सृष्टि' है। यह समग्र संसार उस विराट् देही आत्माकी कर्मशक्तिकी कर्मभूमि है। यह मानव देह भी उसी कर्मभूमिका एक कर्मयन्त्र है। इस कर्मयन्त्रको कर्ममें लगाकर आत्मतत्त्वका दर्शन करानेवाला यन्त्री 'भक्ति' है। जो मनुष्य इस कर्मयन्त्रको कर्मरत रख रहा है, वह अपनी आत्मरतिको अक्षुण्ण रख रहा है। कर्मयन्त्रको कर्मरत रखना, और अपनी आत्मरतिको अक्षुण्ण बनाये रखना, ये दो बात नहीं हैं। मानवदेहमें रहनेवाली भक्तिका यही स्वधर्म (स्वभाव) है, कि वह इस मनुष्यदेहरूपी कर्मयन्त्रको आठोंपहर कर्मरत रखती है। जो क्षणमात्रके लिये भी आत्मरतिको छोडना नहीं चाहता, वह कर्मको कभी नहीं छोड सकता। क्षणमात्रके लिये आत्मरतिको न छोडना ही आत्मरतिके लिये कर्मको न छोडना है। देहसे कर्म करनेपर ही आत्मरतिका विकास होता है।

भक्तोंके देहसे होनेवाले कर्मके तीन रूप होते हैं। कर्मका एक रूप भक्तके हृदयमें प्रकट होता है। वह उसके हृदयमें सदा विषयोंकी उपेक्षा करनेवाली अप्रभावित स्थितिको जगाये रखता है। कर्मका (२) दूसरा रूप वचनमें इस प्रकार प्रकट होता है कि इस संसारके संपूर्ण पदार्थ अपने अपने क्षणभंगुर स्वभावको दिखा दिखाकर, प्रत्येक क्षण एक अनिर्वचनीय संकेतमयी ज्ञानिगम्य भाषा बोल रहे हैं। ये पदार्थ उस अपनी अव्यक्त बोलीमें अपने मिथ्यात्व (अस्थायित्व) की घोषणा करके मनुष्यको सावधानवाणी सुना रहे हैं, और इतना सब करके ये सत्यकी ही सर्व भूतस्थ आत्म-रूपताका डंका पीट रहे हैं। उन सब पदार्थोंका वह कर्म भक्तोंको भावमयी भाषा सुनाता रहता है। भक्तोंकी वाणी इसी भाषाकी

आवृत्ति करती रहती है। यही भक्तोंका दूसरा कर्म कहाता है। अर्थात् भक्तलोग जगत्की अव्यक्त भाषामें जगत्के पदार्थोंके मिथ्यात्व (अस्थिरता) की तथा सत्यकी सर्वभूतस्थ आत्मरूपताकी घोषणाको हार्दिक कानोंसे सुनते हैं और अपनी वाणीमें कहते रहते हैं। उस कर्मका (३) तीसरा रूप यही है कि संसारके संपूर्ण पदार्थ तथा संपूर्ण घटनायें निरन्तर जिस सत्यमयी गूंगी भाषाको बोल रही हैं, भक्त जिसे अपने कानोंसे सदा सुनते रहते हैं, वे एक क्षणके लिये भी जिस अव्यक्त भाषाको सुनना स्थगित नहीं करते, उसीको अपने व्यावहारिक जीवनमें प्रगट रखते हैं। वे अपने संपूर्ण अवयवों और इन्द्रियोंको सत्यका साधक बनाकर अर्थात् उन सबको अपने मनोमंदिरमें रहनेवाली भक्ति नामकी अप्रभावित आत्मरतिके वाहन बनाकर कर्मरत रहते हैं। मन, वचन तथा कर्म इन तीन रूपोंमें पृथक् पृथक् दीखनेपर भी अन्तरमें एक रूप रहनेवाली स्थिति ही 'भक्ति' कहाती है। जब मनुष्य आत्मस्वरूपका दर्शन करलेता है, तब वह आत्मतत्त्वके अतिरिक्त किसी वस्तुके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता और आत्मामें आत्मसमर्पण करके सदाके लिये आत्ममग्न होजाता है। तब उसका आत्ममग्न होनेसे भिन्न किसी स्थितिसे संबन्ध रख सकना असंभव होजाता है। वह इस स्थितिमें जिस प्रकारके आचरणोंको अपने जीवनका अभिप्राय मानता है, उन आचरणोंका स्वरूप 'सत्यकी सेवा करना' है।

भक्तको उस सत्यका दर्शन बाहर कहीं नहीं होता। वह दर्शन केवल मनमें होता है और आत्मरति या अप्रभावित मनोदशाके रूपमें होता है। जब भक्तको मनमें सत्यका दर्शन हो जाता है, तब भक्तकी आंखोंका मुंह बाहरकी ओर नहीं रहता। भक्तको बाहरके संसारमें जो कुछ रूप, रस, स्पर्श आदि विकार दीखते हैं, वह उन सबको तटस्थ रहकर देखता है। वह उन सबको अपनी निर्विकार स्थितिके दर्शनका साधन बना लेता है। वह उन रूप रस आदियोंको देखनेसे उत्पन्न हुए विकारोंको अपनी ज्ञानाग्निका ईंधन बनाकर, बार बार अनन्तबार निर्विकार स्थितिका दर्शन करता रहता है। भक्तोंके ज्ञाननेत्र इस संसारकी भौतिक रूपरस आदि नामवाली संपत्तिको त्यागते रहते हैं, और उस त्यागसे विकारोंपर विजय

प्राप्त करनेवाली निर्विकार स्थितिका उपार्जन करनेमें लगे रहते हैं। भक्त पुरुष अनन्तवार रूपरसादियोंको देखते हैं और अनन्तवार निर्विकार स्थितिका संभोग करते हैं। भक्तमनोंमें उदित होनेवाले विकार भक्तहृदयोंको निर्विकार स्थितिमें पहुंचाते रहते हैं। भक्त हृदय रस स्पर्श आदि स्थूल विषयोंके पास आनेपर उत्पन्न होनेवाले रसेच्छा तथा स्पर्शेच्छा आदि विकारोंको जीतनेवाली और सब प्रकारकी इच्छाओंका मर्दन करके निर्विकार स्थितिका दर्शन, स्पर्शन, संभोग करानेवाली अमृतमयी शान्ति भोगते रहते हैं। भौतिक मन, वाणी और इन्द्रियोंके अगोचर, अपूर्व, अनिर्वचनीय, अध्यात्म राज्यमें रहनेवाला और उस आध्यात्मिकराज्यके ज्ञानालोकसे अपने मनको जगमगाये रखनेवाला भक्त, अपने मनमें केवल यही काम करता है कि विषयातीत, शुद्ध, मन वाणीकी अगोचर, अनन्त वेदध्वनि (इस स्थूल देहसे अतीत रहनेवाली अनन्त आत्मरति) की रक्षा करता रहता है। वह इस अखण्ड कर्मको कभी नहीं छोडता। ऐसे अखण्ड कर्ममें सदा लगा रहनेवाला भक्तहृदय अपने मन, वचन और देहसे करे तो क्या करे? क्योंकि उसकी ज्ञानमयी आंखोंके सामने यह भौतिक संसार नहीं है। वह आठोंपहर अनासक्ति नामक इन्द्रियातीत संसारको देख रहा है।

रूपरसादिके स्पर्शमें आनेवाली इन्द्रियां अपने स्वाभाविक आकर्षणकी बातको भक्तके मन तक पहुंचाती तो हैं; परन्तु इस आकर्षणके रहस्यको समझनेवाला भक्तहृदय इस समाचारसे विचलित नहीं होता। वह इन्द्रियोंके आकर्षणके इस प्रसंगको व्यर्थ नहीं जाने देता। वह इस प्रसंगसे लाभ उठाता है। वह इसको अपनी निर्विकार स्थितिकी रक्षा करनेके काममें लाता है। वह जान लेता है कि मेरा कर्तव्य इन सब रूपरसादि विषयोंको अपनी स्थितिकी रक्षामें उपयुक्त कर लेना है। वह जान लेता है कि मैंने जिस आत्मरतिको जीवित रखनेके अभिप्रायसे शरीर धारण किया है, वह अभिप्राय इन सब पदार्थोंको अपनी स्थितिकी रक्षामें उपयुक्त करते रहनेसे ही पूरा होता है। वह जिन पदार्थोंको आठों पहर देखता है, उन सबकी उपेक्षा करता है, और इस प्रकार उनका उपयोग सत्यके दर्शनके लिए कर लेता है। अर्थात् वह उन सबको अनावश्यक मानता है, और यों

अपनी आत्मरतिकी रक्षा करता रहता है। भक्तोंके अप्रभावित मनमें आठों पहर संसारके पदार्थोंकी उपेक्षावाणी गूंजती रहती है। संसारके पदार्थोंकी उपेक्षावाणीको आठों पहर सुननेवाले भक्तोंके कान, संसारकी कौनसी बातको सुननेके लिये उसकी वाणीको प्रेरित करें? भक्तकी वाणीमें आत्मरतिकी वार्ताके अतिरिक्त दूसरी किसी अनात्मवार्ताके लिये स्थान नहीं रहता। क्योंकि उसके मनको संसारके रूपरस आदि विषयोंकी आकर्षणी शक्तिकी उपेक्षावाणी सदा घेरे रहती है। वह उपेक्षावाणी उसके मनमें आठों पहर गूंजती रहकर उसका 'कीर्तन' बनी रहती है। निरन्तर विषयोंकी उपेक्षा करनेवाली वाणीका सर्वत्र प्रचार करना, और उस वाणीको ही सर्वत्र सुनते रहना, यही भक्तकी वचनश्रवणशक्तिका सर्वोत्तम उपयोग रह जाता है। इससे भिन्न सब कुछ उसके लिये परित्याज्य, असह्य विष हो जाता है। उसके मनमेंसे आत्मतत्त्वके कीर्तनसे दूसरी कोई ध्वनि नहीं उठती और आत्मतत्त्वके श्रवणसे दूसरी कोई ध्वनि बाहरसे उसके भीतर घुसनेकी स्वीकृति नहीं पाती। इस संसारमें अन्दर और बाहर आत्मतत्त्वकी जो विराट् निःशब्द ध्वनि गूंज रही है, आठों पहर उसी ध्वनिके सागरमें डूबे रहनेवाले भक्तका जीवन सत्यके कीर्तनका रूप धारण कर लेता है। सत्य रूपी आत्मतत्त्वके कीर्तन और मननको कभी न छोड़नेवाले भक्तकी आंख, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियां करें तो क्या करें? भक्त लोग ऐसे मधुर स्वभावमें फंस जाते हैं कि जहां उनकी आंख खुलती हैं, या जहां उनकी आंख मिचती हैं, जहां वे किसी पदार्थको छूते हैं, या जहां वे किसी पदार्थको छूनेसे बचते हैं, वे सर्वत्र सत्यका दर्शन, स्पर्शन तथा संभोग करनेके लिये ही इन सब कामोंको होने देते हैं। इस विराट् सत्यस्वरूप आत्मतत्त्वके अनन्त अमृतसागरमें डुबकी लगाये रहनेवाला भक्त, मीनके समान अपनी ज्ञानमयी आंखोंको सदा खुला रखकर सदा शान्त, स्निग्ध जलप्रवाहमें स्नान करता रहकर, अमृतसागरके अमृतका भोग करता रहता है। भक्तशरीरके मन, वचन तथा कर्मसे सत्यस्वरूप आत्मतत्त्वके चिन्तन, कीर्तन या सेवनके अतिरिक्त दूसरा कोई काम होना बंद हो जाता है। भक्तजीवनका मनन, सत्यके कीर्तन और

सेवनसे पृथक् नहीं होता। भक्तजीवनमें बोले जानेवाले वचन सत्यके मनन और सेवनसे भिन्न नहीं होते। भक्तजीवनमें किया हुआ सत्य स्वरूप आत्मतत्त्वका सेवन उसीके मनन और कीर्तनसे भिन्न नहीं होता। यों भक्तजीवनमें मन, वचन और कर्म तीनों अभिन्न रूपमें सत्यके प्रकट करनेवाले होकर, 'भक्ति' का रूप धारण कर लेते हैं।

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

अर्थ—यही भक्ति है, यही भक्ति है।

भाव—यदि भक्तजीवनके मन, वचन और कर्म सत्यकी सेवामें तन्मय होकर सत्यको ही प्रकट करनेवाले बनगये हैं, तो फिर भक्तजीवनमें अनात्म-भावनाओंके उदय होनेका अवसर कहां रहा? मन वचन कर्मको सत्यकी सेवामें तन्मय रखनेवाले भक्तहृदयसे बाहर किसी दूसरे विषयार्जनशील हृदयमें भक्ति कैसे रह सकती है? यदि भक्तिको ढूंढ निकालना हो तो उसे भक्त हृदयमें ही ढूंढो। उसे सूने आकाशमेंसे ढूंढनेकी व्यर्थ चेष्टा मत करो। भक्ति भक्तहृदयके अतिरिक्त दूसरे किसी आसनपर नहीं बैठती। भक्तहृदय ही भक्तिका रुचिकर आसन है। भला क्या इस मनुष्यको, भक्तिको ढूंढनेके लिये हृदय जैसे उज्ज्वल स्थानको छोडकर, अंधेके समान इस विशाल जगत्में भटकते रहना पडेगा? भक्तिका निवासमन्दिर यह हृदय मनुष्यको जन्मके साथ दिया गया है। मनुष्यने इस हृदयको लेकर ही जन्म लिया है। मनुष्यहृदयके अतिरिक्त भक्तिका दूसरा कोई स्थान नहीं है। जो कोई भक्तिका दर्शन करना चाहे वह बाहरकी ओर आंख घुमाना छोड़ दे। वह किसी बाह्य आधार या कर्मसे उसे ढूंढनेका प्रयत्न न करे। उसे चाहिये कि वह भक्तिके लिये अपने ही भीतर घुसे और अपने ही हृदयको जाकर टटोले। **नारद**जी कहते हैं कि यही भक्ति है और यही भक्ति है। **नारद**जी यही कहना चाहते हैं कि भक्ति बाहर कहीं बिखरी हुई नहीं पडी, जहांसे उसे बटोरा जा सकता हो।

भक्ति आत्मतत्त्वरूपी सत्यका अभिन्न साथी है। यह देही, आत्म-तत्त्वको अपने हृदयमें लेकर मनुष्यदेह धारण करता है। यदि कोई उस आत्मतत्त्वको ढूंढना चाहे तो वह अपने स्वरूपको ढूंढनेके अति-

रिक्त दूसरा कोई काम न करे। यदि कोई मनुष्य अपने स्वरूपको ढूंढनेके अतिरिक्त दूसरा कोई काम करने लगेगा, तो उसका वह अनुष्ठान ही भक्तिको अस्वीकार कर देना हो जायगा। जो देह अपने हृदयमें भक्तिको लेकर उद्भूत होता है, उस देहके सब अवयव भक्तिका दर्शन, स्पर्शन तथा संभोग करानेके साधन होते हैं। वह हृदय उन सब साधनोंको भक्ति करनेके काममें लगाये रहता है।

बाहर किन्हीं साधनोंमें भक्तिका अन्वेषण नहीं करना चाहिये। सब बाह्य साधनोंको भक्तिके काममें लानेवाला हृदयरूपी स्वाभाविक साधक, जिस मनुष्यदेहरूपी आधारमें बैठा रहता है, उसीमें भक्ति अन्वेषण और दर्शन करना चाहिये। भक्तहृदय जो कुछ करता है वही 'भक्ति' है। भक्तहृदयके कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्मोंकी कोई सूची बना सकना असंभव है। केवल इतना कहा जासकता है कि भक्तहृदयकी सत्यमयी स्थिति ही 'भक्ति' है। उस स्थितिके स्वाभाविक कर्तृत्वसे, इस भक्तदेह रूपी कर्मयंत्रसे, जो कुछ चिन्तन, कीर्तन या सेवन होता है, वह सब कुछ 'भक्ति ही भक्ति' होता है। इस भक्तिकी निवासभूमिको मनुष्यदेहसे बाहर किसी स्थान, किसी जनसमूह, किसी व्यक्तिकी संगति, किसी शारीरिक प्रक्रिया, किसी प्रकारके व्यायाम, किसी मन्दिर, किसी मूर्ति या किसी प्रकारके भौतिक पदार्थमेंसे ढूंढ निकालना असंभव बात है; क्योंकि भक्ति मानव हृदयके अतिरिक्त और कहीं नहीं रहती। जबतक मनुष्य भक्तिको इन बाह्य पदार्थों या व्यापारोंमेंसे ढूंढनेकी भ्रान्ति करता रहेगा तबतक अपने ही हृदयमें बैठी रहनेवाली भक्ति, अपनी ही आंखोंके सामने, अपनी ही कोठरीमें खोयी हुई मणिके समान अदृश्य बनी रहेगी। यदि मनुष्य अपने मनमें भक्तिका दर्शन करलेगा तो इसीसे उसके वचन और कर्म दोनों भक्ति करने लगेंगे। मनमें भक्तिका दर्शन करना ही वचन और कर्मको भक्तिमें लगा देना है। मनको भक्तिमें विलीन करदेनेके पश्चात् आत्मरति मनका स्वभाव होजाता है। तब मनमें अनात्मचिन्तनका होना असंभव घटना बनजाती है। अनात्मचिन्तनका असंभव घटना बन जाना ही 'भक्ति' है। इसके अतिरिक्त भक्ति और कुछ नहीं है।

भक्ति किसीकी चाटुकारिता करनेकी मनोवृत्ति नहीं है। भक्ति किसीको रिझानेकी मनोदशा नहीं है। अनात्मचिन्ताको जीवनकी असंभव घटना बनाढालनेवाली निर्मल कर्तव्यपरायण मनोदशा ही 'भक्ति' है। इस सूत्रमें दिखाई हुई दृढताका यही अभिप्राय है कि भक्तके जीवनमें क्षणभरके लिये भी अनात्मचिन्तनका आना असंभव है। अनात्मचिन्तनमें भी लगे रहना और भक्ति करनेका संतोष भी कमाते रहना, ये दोनों बात एक साथ नहीं रहतीं। किसी समय भक्ति और किसी समय अनात्मचिन्तन (विषयोपार्जन), कुछ देर भक्ति और कुछ देर अनात्मचिन्तन; ऐसी किसी स्थितिका भक्तिके साथ निभाव नहीं होता। संसारमें विषयसेवा और भक्तिके समझौतेवाले जीवन बहुधा देखनेमें आते हैं। इस ढंगकी परिस्थितियोंमें भक्तिका बनावटी चेहरा लगानेवाली मोहनी मूर्तिको भक्ति समझ लिया जाता है। संसारमें बहुधा इस भक्तिकी मोहनी मूर्तिमें अश्रु, पुलक, नृत्य, आदिका जो अभिनय देखनेको मिलता है वह सब अनात्मसेवनरूपी आत्मवंचना है। ऐसी आत्मवंचक मनोवृत्तिके अधीन आंख, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियां जिन कामोंमें लगती हैं, या जो हावभाव दिखाती हैं, निश्चय ही वे काम आत्मरतिके लिये नहीं किये जाते। ऐसे काम विषयविकारोंसे कलुषित मस्तीके ताण्डव नृत्य होते हैं। तात्पर्य यही है कि भक्तजीवनमें कुछ देर भक्तिका राग तथा कुछ देर विषयोंका संग्रह इन दोनों बातोंका एक साथ निभना असंभव है। जब मन शुद्ध होता है तब भक्तके पास उसकी शुद्धताके प्रभावसे प्रतिक्षण शुद्ध अविच्छिन्न तैलधाराके समान केवल आत्मरतिके अभिप्रायसे धारण किया हुआ अनहंकृत जीवन रह-जाता है। ऐसा जीवन ही 'भक्ति' है, ऐसे जीवनसे भिन्न भक्ति नामकी कोई स्थिति नहीं है।

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसी व्रजगोपिकाओंकी भक्ति है (अर्थात् व्रजगोपिका, भक्तहृदयमें बसनेवाली, भक्तहृदयोंमें ही पायी जानेवाली, मन, वचन और कर्मके द्वारा आत्मरतिके रूपमें प्रकट होनेवाली, परमप्रेमरूपिणी भक्ति नामकी ह्लादिनी शक्तिके मूर्तिमान उदाहरण हैं)।

भाव—विषयाकर्षणका भंजन ही 'भक्ति' है। इस भक्तिको अपनाकर व्रज-गोपिका नामके किन्हीं भक्तोंने भक्त पदका उपार्जन किया था। विषयाकर्षणका यही स्वरूप है कि विषय आपात दृष्टिसे अपनाये जाने योग्य प्रतीत होते हैं। मनुष्यके मनमें रहनेवाली विषयवासना ही विषयोंको अपनाये जाने योग्य मनवानेवाली (उन्हें अपनाये जाने योग्य रूप देनेवाली) वस्तु है। विषयवासना अपने विषयको सुन्दर बनाकर मनुष्यको लुभाती है। विषयका संभोग करनेकी इच्छा ही विषयवासनाका स्वरूप है। विषयवासना चाहती है कि इन अनियमित तथा पराधीन संयोगवियोगवाले विषयोंको सदा अपना बनाये रखूं और सदा अपने पास खडा रखूं। वह चाहती है कि ये विषय सदा आंख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा आदिको तृप्त करनेके साधन बने रहें और मेरे पाससे कभी न हटें। वह चाहती है कि विषय सदा मेरे दास बने रहें और मैं सदा विषयोंकी प्रभु बनी रहूं।

दासता और प्रभुताका संबन्ध एकपक्षीय नहीं होता। यह संबन्ध पारस्परिक अर्थात् उभयपक्षीय होता है। दास दास रहता हुआ 'दास' रहता है, और प्रभु प्रभु रहता हुआ अपने दासका 'दास' रहता है। प्रभु प्रभु रहता हुआ 'प्रभु' रहता है और दास दास रहता हुआ अपने प्रभुका 'प्रभु' रहता है। जैसे दास अपने प्रभुका दास है, इसी प्रकार प्रभु भी अपने दासका 'दास' अर्थात् उसपर निर्भर रहनेवाला है। प्रभुकी मनोदशा दासकी मनोदशासे ऊंची मनोदशा नहीं है। जो मनुष्य विषयोंका दास है उसने विषयोंको अपना 'प्रभु' बनालिया है। जब कोई विषय मनुष्यसे कुछ कराते हैं, जब वे मनुष्यको यथेच्छ घुमा डालते हैं, तब वे विषय मनुष्यके 'प्रभु' बन जाते हैं। जब विषयोंके विना मनुष्यका काम नहीं चलता, जब मनुष्यको विषयोंके विना अपना काम रुका हुआ प्रतीत होता है, तब मनुष्यको 'विषयोंका दास' समझ लेना चाहिये। ऐसी दासता और प्रभुतामें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। परन्तु मूर्ख मनुष्योंका मन 'विषयोंका प्रभु' बनजानेके धोकेमें फंसकर प्रसन्नता मानता जाता है और अपनेको विषयोंकी दासतामें जकड जकडकर बांधता चला जाता है। विषयोंका प्रभु

(मालिक्) बनजानेके धोकेमें फंस जानेवाली यह मानव मनकी बडी निकृष्ट और अधःपतनकी दशा है । प्रभुताका बाना पहननेवाली इस दासतासे बचे रहनेमें ही मानव मनका कल्याण है।

मनुष्य जिसे अपनाता है सब समय उसीका संग चाहता है । वह उससे भिन्न किसी वस्तुको नहीं चाहता । उसके मनमें यही बस जाता है कि वह सदा मेरा साथी बना रहे और मैं सदा उसका साथी बना रहूं। यदि वह और मैं परस्पर आनन्द देनेवाले न बनेंगे तो तृप्ति नहीं मिलेगी । मैं उसे चाहूं और वह मुझे न चाहे ऐसी भावना मनसे नहीं सही जाती । उसे प्यारा समझनेका अभिप्राय तब ही पूरा माना जाता है जब उसका प्यारा भी उससे भिन्न दूसरा कोई न रहे । विषयोंको अपना मित्र बनाकर पानेकी भावना इसी रूपमें जागती है कि विश्वके रूपरस आदि विषय संपूर्ण संसारमेंसे निचुड़कर 'सखा'रूपमें मूर्तिमान् होकर मेरे पास आयें और कभी न हटें। अर्थात् वे विषय मेरे अतिरिक्त और किसीको अपना मित्र न बनायें । वे केवल मेरी मित्रताको स्वीकार करके मेरे पास रहें ।

परन्तु सखा रूपमें विषयोंको अपनालेनेपर भी अपनानेकी मानवीय प्रवृत्ति पूर्ण रूपसे तृप्त नहीं होती । फिर उन्हें 'वात्सल्यभाव'से अपनाना चाहा जाता है कि ये विषय हमारे सन्तान रूपमें हमारे बनजांय, हमारे पास रहें, और हमसे कभी नाता न तोडें । हम भी उन विषयोंक सन्तान बनकर उनसे नाता न तोडनेवाले होकर उनसे अपनी एकता बनाये रहें। विषयको ही संसारकी एकमात्र अस्तित्व रखनेवाली स्पृहणीय सत्ता मान बैठनेकी भ्रमपूर्ण इच्छाको ही ' विषयोंमें वात्सल्यभाव ' कहा जाता है ।

इन दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावोंसे विषयोंको अपनाने पर भी जब अपनानेकी इच्छा शान्त नहीं होती, तब इन सब भावोंकी मधुरिमाको एकत्रित करके, विषयोंको मधुरभावसे अपनानेकी इच्छा होती है । विषयवासना विषयोंको आकर्षणशील रूप देनेके लिये, उन्हें दास्य, सख्य, वात्सल्य और शान्त इन सब भावोंसे अपनाना चाहती है । वह विषयोंको अपनानेके लिये उनको जैसा

जैसा मानना पडे, वैसा वैसा माननेको कटिबद्ध होती जाती है। वह विषयोंके संबन्धमें यह चाहती है कि यदि कोई वस्तु मेरे पाससे न हटनेवाली हो तो वह विषय ही हो, और यदि मैं किसीसे वियुक्त न होना चाहूं तो वह विषय ही हो। विषय मेरे पास बने रहें और मैं विषयोंके पास बनी रहूं। विषयवासनाके होनेपर विषयोंको सखा, दास, प्रभु, पिता, पुत्र, पति और पत्नीके रूपमें देखना और अपने-को विषयोंके साथ अभिन्न तथा अच्छेद्य नातेवाला देखना चाहा जाता है। इस प्रकारकी चाह ही 'विषयवासना' का स्वरूप है।

वह विराट्देही इस संसारमें अवतीर्ण होनेके साथ ही विषय-वासनाको लेकर आता है। वह अपने साथ विषयवासनाको इसलिये लाता है कि मैं इस विषयवासनाको दलता रहकर अपनी निर्वि-षय स्थितिमें पहुंचता रहूंगा। मैं इसे मारकर प्रत्येक क्षण अखण्ड प्रवाहित होनेवाली तैल धाराके समान अपने अप्रभावित अटल गौरव-पूर्ण अमृतत्वका संभोग करता रहूंगा।

पहले अपने देहमें अपने स्वरूपकी भ्रान्ति करली जाय (अर्थात् देहको अपना स्वरूप समझ लिया जाय) फिर दूसरे देहोंमेंसे कुछको पति, पत्नी, सखा, सन्तान, दास, प्रभु, आदि मान लिया जाय और उन सबसे संभोगका नाता जोडकर, अपनी विषयवासनाको तृप्त किया जाय, यही 'विषयवासनाका प्रकट होना' कहाता है। परन्तु जब इस विषयवासनाको सर्व भूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप बतादिया जाता है, और उससे आत्माके अतिरिक्त दूसरी सत्ताको अस्वीकृत करा दिया जाता है, तब वह विषयवासना, उस अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूपको ही माता, पिता, भाई, भगिनी, सखा, दास, प्रभु, आदिकी संपूर्ण कामनाओंको पूरा करनेवाला केन्द्र बना लेती है और सब भौतिक विषयोंकी उपेक्षा कर देती है। इस अवस्थाके आनेपर कामनाओंकी पूर्ण तृप्ति हो जाती है। तब कामना अखण्डानन्दका संभोग चाहनेवाली कामनाधारामें मिलकर अपनेआपको कामनाओंकी पूर्ण तृप्ति नामके अनन्त आनन्दसागरमें विलीन करदेती है। इस प्रकार कामनाका अपने आपको विलीन करदेना 'भक्तिकी शान्तिमयी स्थिति' है। भक्तिकी इस शान्ति-मयी स्थितिका माहात्म्य यही है कि यह भक्तजीवनमें निवृत्तिका

रूप धारण करके 'मूर्तिमान पौरुष' बनकर आती है, और विघ्न, बाधारूपी पर्वतमालाओंकी छातीको चीरकर, उनको लांघती चली जानेवाली जान्हवीके समान, रूपरस आदि विषयोंको उल्लंघित, विमर्दित, प्रक्षिप्त, अपसारित, और उपेक्षित करती हुई सब परिस्थितियोंमेंसे अपना निर्विघ्न मार्ग बनाकर, विघ्नोंकी द्वितटभूमिके बीचमें गौरवके साथ बहती रहती है। भक्तिरूपी यह शान्तिकी धारा, 'मूर्तिमती निवृत्ति' या 'पुरुषार्थ' बनकर सिंह जैसे विक्रमको लेकर विषयकामना और विषयोंके बीचमें इन दोनोंको मिलने देनेका विघ्न बनकर बहती रहती है। वह विषयकामनाको और विषय समझे जानेवाले रूपरसादिको परस्पर नहीं मिलने देती। वह (भक्ति) विषयकामनाका तथा विषय समझे जानेवाले रूपरस आदिका केवल यही उपयोग करती है कि इनको अपने विराट्, निराकार, अनन्त अस्तित्वका सान्त, साकार, माधुर्यमय, अनुपम रूप दे देनेवाली तटभूमि बनालेती है। वह 'भक्ति जान्हवी' विषयकामना तथा विषय नामके दो तटोंको परस्पर न मिलने देनेवाली बनकर, उन्हीं दोनों तटोंके बीचमें जान्हवीके समान गंभीर भावसे बहती रहती है। वह भक्तहृदयके उर्वर विस्तीर्ण क्षेत्रका सिंचन करती हुई, उसे 'दैवी संपत्ति' नामके गुणरूपी सस्योंसे संपन्न बनाती रहती है। यह 'भक्ति गंगा' बहती बहती अनन्त सच्चिदान्द सागर परमात्मा नामके संगमक्षेत्रमें जा गिरती है। भक्तहृदयमें बहती रहनेवाली भागवती शक्ति नामकी इस भक्ति धाराकी महती आकर्षणी शक्तिकी महामहिमासे खिंचकर, स्वयं आत्मसागरको ही धाराके पास आनेका आश्चर्यपूर्ण कर्म करना पडता है और भक्तहृदयको ही अपना संगमक्षेत्र बनाकर वहीं आविर्भूत होना पडता है। भक्तहृदयमें प्रकट होनेवाले वे परमात्मा चिन्मयदेहधारी माता, पिता, पति, पत्नी, सखा, सन्तान, दास और प्रभुके रूपको धारण करके आविर्भूत होते हैं और भक्तिलीलाका रसास्वाद करते हैं। भक्त अपने आत्माको ही सखा, सन्तान, पति और प्रभुके रूपमें पाता है, और भक्तिलीलाका रसास्वाद करनेमें पूर्ण परितृप्तिका दर्शन करता रहता है। भक्तका समग्रजीवन संसारके सब भूतोंमें अपने प्यारेका दर्शन, स्पर्श, श्रवण, जिघ्रण आदि करते रहनेमें

मग्न रहनेवाला परमार्थसेवन या भक्तिलीलारूपी कर्मबन्धनरहित निष्काम कर्म बनजाता है।

इससे पहले सूत्रोंमें पूजा, कीर्तन, तथा आत्मरति इन तीनोंका समावेश करके, उसे 'भक्ति' बताकर, फिर व्रजगोपिकाओंको उपमाके रूपमें रखकर, व्रजगोपिका नामके किन्हीं देहधारियोंके आचरणोंको 'भक्तिकी कसौटी' नहीं बनाया गया। इस सूत्रका अभिप्राय व्रजगोपिकाओंके आचरणोंके अनुकरणको प्रोत्साहन देना कदापि नहीं है। किन्तु विषयभोगसे पूर्णनिवृत्त तथा केवल आत्मरतिके लिये ही कथाश्रवण, कीर्तन और सेवामें रत होजानेवाले भक्तहृदयोंको ही भक्तिकी कसौटी स्वीकार किया गया है। जब पहले भक्तिकी इस अनादि कालसे चली आनेवाली अमर कसौटीपर व्रजगोपिका नामके किन्हीं शरीरधारियोंके भक्तजीवनको कसकर देखलिया और उसे सच्ची भक्तिसे पूर्ण पा लिया-तब पीछेसे उनके भक्तजीवनको, इस सूत्रमें, भक्तिके विमलक्षेत्रमें प्रवेश करनेका अधिकार स्वीकार किया है।

व्रजगोपिकाओंका जीवन भक्तिकी कसौटी नहीं है। व्रजगोपिका भक्तिका जन्म देनेवाली नहीं हैं। इस सूत्रमें केवल इतना स्वीकार किया है कि व्रजगोपिका भक्तजीवनको अपनानेके कारण भक्त कहलायी थीं। किन्हीं भक्तोंके जीवनको सूत्रोंमें स्वीकृत करनेका केवल इतना भाव है कि परमात्मतत्त्वकी भक्तिरूपी ह्लादिनी शक्ति अपनी जिस अनिर्वचनीय शक्तिसे आत्मविस्मृति नामके अज्ञानको हटाकर, आत्मतत्त्वकी अखण्ड स्मृति नामक आत्मसंभोगलीला करती है, भक्तजीवनकी उस लीलामें, भौतिक देहधारियोंके विरह, आकर्षण, मिलन और संभोग आदिका कोई संबन्ध या प्रभाव नहीं होता।

इस सूत्रमें जिन भक्तोंका उल्लेख है, वे किसी देहधारीको अपना सखा, संतान, प्रभु, या पति आदि मानना छोडचुके थे। उन्होंने परमात्माको ही इन सब रूपोंमें अपनाना सीखलिया था। वे अपने सब सांसारिक संबन्धियोंको परमात्मरूपमें देखते थे। वे अपनेको दूसरे देहोंके आकर्षणोंसे मुक्त कर चुके थे। वे इन सब देहोंके एकमात्र देहीसे अपना संबन्ध जोड चुके थे। उन भक्तोंका लीलाक्षेत्र किसी व्रज नामके भौतिक भूखण्डमें सीमित नहीं था। उनके जीवनका

एकमात्र अवलम्ब उनका प्यारेसे भी प्यारा उनके हृदयरूपी व्रजकी रजमें अवतीर्ण हुआ था और लीला कर रहा था। उन्होंने अपनी गोदमें उसी लीलामयको सन्तानरूपमें पाया था। वे सन्तानको भागवत अवतार रूपमें देखते थे। उन्होंने उसी परमात्माको पतिके रूपमें अपने हृदयका अधिकारी बनाया था। उन्होंने अपनी गोदमें किसी भौतिक मांसपिंडको संतानके रूपमें देखनेकी इच्छाको तुच्छ समझ लिया था। उन्होंने किसी भौतिक देहको सखा बनाकर उससे अपने बाहुवेष्टनको कलंकित करना त्याग दिया था। वे अपने पवित्र हृदयसिंहासनको किसी भौतिक देहके आकर्षणसे अपवित्र नहीं होने देते थे। वे किसी नरकंकालके मोहमें फंसकर अपने हृदयकी व्रजभूमिसे बाहर एक भी पैर नहीं डालते थे। वे प्रत्येक क्षण सर्वभूतोंमें, जीवनके प्रत्येक अनुष्ठानमें प्यारेसे मिलनेके आनन्दको लेतेरहते थे। इस प्रकारका जीवन बनजाना ही 'भक्ति' है। इस भक्तिका अधिकार 'व्रजगोपी' नामके किन्हीं भौतिक देहोंको नहीं है। इस भक्तिका अधिकार केवल भक्तहृदयोंको है। जिनके पास ऐसा भक्त हृदय था वे सब व्रजगोपीनामके भक्त अमर थे। वे अमृतमयी भक्तिलीलाका रसास्वाद कर रहेथे। आज भी जिनके पास ऐसा भक्तहृदय हो वे अमर हैं और वे भी अमृतमयी भक्तिलीलाका आस्वाद ले रहे हैं।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

अर्थ—गोपीभक्तिमें अपने स्वरूपभूत माहात्म्यरूपी परमार्थज्ञानको भूल-जानेका कलंक नहीं था।

भाव—गोपीभक्तिमें किसी अनात्म आधारको प्रेमास्पद मानलेनेकी भ्रान्ति नहीं थी। विकारहीन आत्मस्थिति 'माहात्म्य' कहाती है।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि उनका प्रेम निष्कलंक परमार्थ प्रेम न हो, तो वह प्रेम जारोंको दिये हुए प्रेमके समान (अभक्ति हो जाता) है।

भाव—माहात्म्य ज्ञानको भूलकर जो हावभावपूर्ण भक्तिनामक भौतिक आसक्ति दिखायी जाती है, वह कदापि 'भक्ति' नहीं है।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

अर्थ—ज़ारप्रेममें परमार्थप्रेमसे सुखी होनेका सौभाग्य नहीं है।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यऽधिकतरा ॥ २५ ॥

अर्थ—वह भक्ति कर्म, ज्ञान तथा योगसे श्रेष्ठ है।

भाव—भक्तिके विना कर्म, ज्ञान, योग आदि सबके सब दुःखदायी विषय-बन्धनका रूप धारण कर लेते हैं। निष्काम निरोधरूपी भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठ बतानेका तात्पर्य यही है कि यदि इन सबको महत्त्व देना हो तो इन सबके साथ निष्काम निरोधरूपी भक्तिको जोड दो। यदि इनके साथ भक्ति न होगी तो ये सब निष्फल रहेंगे।

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

अर्थ—फलरूप होनेसे ॥

भाव—भक्ति ही भक्तिका फल है। अर्थात् भक्ति निष्काम अवस्थाका नाम है। भक्तिरूपी अमृत ही भक्तिपूर्वक किये हुए कर्मका फल है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

अर्थ—क्योंकि ईश्वर भी अभिमानद्वेषी और दैन्य (निष्कामता) से प्रेम करनेवाला है। (इसलिये भक्तिको कर्म ज्ञान योगादियोंसे श्रेष्ठ कहा गया है)।

भाव—ईश्वर कभी भोक्तृत्व या कर्तृत्वका अभिमान नहीं करता। वह अनात्मविषयके सामने आजानेपर आत्मविस्मृतिमें नहीं पडता। वह न तो कभी विषयभोगीपनके अभिमानमें आता है और न कभी अहंकारविमूढतारूपी अदीन (उद्धत) भावको अपनाता है। वह अज्ञानमय क्षुद्र अहंकारको अपने विराट् स्वरूपमें विलीन रखकर इस संसारके सृष्टि स्थिति प्रलय कर रहा है। भक्तके आत्मसमर्पणकी भी यही कसौटी है।

पहले तो अपनेसे भिन्न काल्पनिक ईश्वरको मानना और फिर स्वयं ईश्वरसे पृथक् रहनेवाली किसी क्षुद्र सत्ताके स्वामी बनकर उस सत्ताका अभिमान करना, यह ' अदीनता ' या ' उद्धतपना ' है। इस सूत्रमें इसी अज्ञानसे पार चले जानेको अर्थात् अपना पृथक्

अस्तित्व भूलजानेको 'दीनता' कहा गया है। यहां समर्पण ही दीनता है। यहां अज्ञानके नाशको दीनता कहा गया है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

अर्थ—उसका ज्ञान ही साधन है ऐसा कुछ लोगोंका मत है।

भाव—आत्मज्ञान अर्थात् अखण्ड आत्मस्मृतिसे ही भक्तिका होना संभव है अन्यथा नहीं; ऐसा कुछ भक्तोंका अनुभव है।

अन्योऽन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

अर्थ—ज्ञान और भक्ति एक दूसरेके आश्रय हैं, ऐसा दूसरोंका मत है।

भाव—कुछ भक्तोंके अनुभवको दूसरे शब्दोंमें यों कहा जाता है कि विना ज्ञान भक्ति नहीं होती और विना भक्तिके ज्ञान नहीं होता। अर्थात् भक्ति ज्ञानके आश्रित है, और ज्ञान भक्तिके आश्रित है। सारांश यही है कि ज्ञान भी वही बात है और भक्ति भी वही बात है। अखण्ड आत्मस्मृति ही ज्ञान है और वही भक्ति है।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ ३० ॥

अर्थ—**ब्रह्मकुमारों**का कहना है कि भक्ति स्वयं ही अपना फल है।

भाव—**ब्रह्मकुमारों**का यह अनुभव बताया जा रहा है कि भक्ति हो जाने-पर मनमें भक्तिके अतिरिक्त दूसरे फलोंकी कामना नहीं रहती। विषयवासनासे फलकामना उत्पन्न होती है। विषयवासना ही फलाकांक्षा है। विषयवासनाका न रहना ही 'भक्ति' है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—भक्तके राज्यपरिचालन, गृहप्रबन्ध तथा भोजनादि व्यापारोंमें वही निष्कामता देखनेमें आती है॥

भाव—बाह्यदृष्टिसे देखनेमें राज करते हुए भी, घरको अपनाये रहनेपर भी, और भोजनादि शारीरिक क्रियाओंको करते हुए भी भक्तलोगोंको भोगवासनाहीनताको अपनाये हुए पाया जाता है। भक्तलोग राज्य-व्यवस्थाके सुधारके लिये उसमें सक्रिय भाग लेनेसे, गृह आदियोंकी व्यवस्था करनेसे, और शरीर यात्रासे, द्वेष या घृणा नहीं करते। वे केवल इन कामोंमें भोगवासना रखना बुरा मानते हैं। सारांश यही है भक्तोंका राजा होना असंभव नहीं है, गृहस्थ होना भी असंभव नहीं है, तथा शारीरिक धर्मोंका पालन करते हुए साधारण लौकिक

व्यवहारों (खेती व्यापार आदि) में पडना भी कुछ भक्तिका विरोध करनेवाली अवस्था नहीं है ।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

अर्थ—उस (भक्त) से राजभोगका परितोष नहीं पाया जाता और विषय क्षुधाको भी नहीं मिटाया जाता ।

भाव—भक्त राज्य भोगकर तृप्ति पाने या विषयबुभुक्षाको मिटानेके लिये एक तिनका भी इधरसे उधर उठाकर नहीं रखता । भक्तोंको राज्यपरिचालन तथा भोजनादि नामक शरीरयात्रामें भोगवासनासे हीन पाया जाता है । भक्तोंके मनमें राज्यकरनेकी उच्चाभिलाषा नहीं रहती और विषयभोग करके विषयक्षुधाको मिटाकर शान्ति पानेकी दुराशा भी नहीं होती । भक्तलोग विषयवासनासे हीन होकर ईश्वरीय प्रबन्धके दिये हुए राज्यपरिचालन तथा भोजनादि व्यापार रूपी कर्तव्योंको पालते हुए देखे जाते हैं ।

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अर्थ—इसलिये मोक्षप्रेमियोंको उसी निष्कामताको अपनाना चाहिये ।

भाव—मोक्षप्रेमियोंकी विषयकामनाहीन स्थितिसे यही समझना चाहिये कि ईश्वरीय प्रबन्धसे आए हुए कर्तव्यमें भोगवासनाको त्याग देना चाहिये । अर्थात् अपने ईश्वरदत्त कर्तव्यमें किसी प्रकारकी विषय-बुभुक्षाको अवसर नहीं देना चाहिये । विषयबुभुक्षाका इतना अति तिरस्कार ही 'भक्ति' है ।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

अर्थ—भक्तिको जाननेवाले श्रेष्ठ सन्तलोग निष्काम भक्तिके साधनोंके जो वर्णन करते हैं, वे आगे बताये जाते हैं ।

तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

अर्थ—उस भक्तिका साधन विषयत्याग है, जो कि संगत्यागसे होता है ।

भाव—आसक्तिमें बांधनेवाली भोगाकांक्षासे रहित हो जाना और रूपरस आदि विषयोंकी उपेक्षा कर देना ही 'भक्तिका साधन' कहाता है ।

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

'भक्तिका साधन' है ।

लोकेपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—लोक (व्यावहारिक जीवन) में भी भगवद्गुणश्रवण या भगवद्गुण-कीर्तनसे भक्तिका साधन होता है।

भाव—इस संसारमें जितने पदार्थ इन्द्रियोंके साथ संबद्ध हों उन सबका भगवद्गुणश्रवण या भगवद्गुणकीर्तनमें उपयोग करलेना ही 'भक्तिका साधन करना' है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

अर्थ—मुख्यरूपसे तो महत्कृपासे ही भक्ति होती है। अथवा कहना चाहिये कि भगवत्कृपाके लेशसे ही भक्ति होती है।

भाव—मुख्य साधन तो यही है कि सर्व भूतस्थ आत्मतत्त्वको अपनाये रहनेवाला सन्तजीवन मनुष्यकी आंखोंके सामने बनारहे। ऐसे जीवनका मनुष्यकी आंखोंके सामने रहना ही संतोंकी सत्संगदान करनेवाली कृपा है। जो भक्त इस कृपासे लाभ उठाता है, वह उस कृपाको भगवत्कृपासे पृथक् कृपा नहीं मानता। वह क्षणमात्रके सत्संगसे ही संपूर्ण भगवत्कृपाको प्राप्त करके भक्तिरूपी अमृतको प्राप्त करलेता है। भक्तके मनमें भगवत्कृपाके लेशके रूपमें उदित होनेवाली क्षणमात्रकी सत्संगेच्छा, संतजीवनके रूपमें प्रकट होनेवाले संसार-हितकारी अमृतको पिलाकर तृप्त कर देती है। इस प्रकार (१) संतोंके जीवन और (२) भक्तोंकी (भगवत्कृपालेशरूपी) सत्संगलेनेकी इच्छा ये दोनों भक्तिके मुख्य साधन हैं। सारांश यही है कि जगत्में भक्तोंका होना और उसके साथ ही भक्तोंमें अनिवार्य सत्संगेच्छा (के रूपमें भगवत्कृपा) का होना 'भक्तिका साधन' है। इनसे भिन्न भक्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। यदि किसी भक्तजीवनमें इनसे भिन्न कोई साधन दीखता हो, तो उसे भी या तो भक्तहृदयकी सत्संगेच्छा (रूपी भगवत्कृपा) जानना चाहिये और या उस (सत्संगेच्छारूपी भगवत्कृपा) को, परितृप्त करनेवाली संतजीवनमें बहनेवाली अमृतधाराका ही कोई सा रूप समझना चाहिये।

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—महान् पुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ होता है।

भाव—विषयभोगाभिलाषियोंको संतोंका संग कभी नहीं मिलता। विषयभोगा-

थींकी बुद्धि सत्संगको समझ भी नहीं सकती। संतोंका संग इस संसारबन्धनको काट डालनेवाला अव्यर्थ कुठार है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

अर्थ—वह भगवत्कृपासे ही मिलता भी है।

भाव—यह सत्संग जिसे मिलता है, उसे अपने भीतर रहनेवाली आत्म-स्थितिरूपी भगवत्कृपासे ही मिलता है। अन्यथा नहीं मिलता। इसका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—उस भगवान्में और उसके भक्तोंमें भेद न होनेसे।

भाव—उस ईश्वरभावनामें तथा उसे अपनालेनेवाले भक्तोंमें कोई भेद नहीं है। भेद इस लिये नहीं है कि ईश्वरभावना ही भक्तका भावना-मय स्वरूप है। भक्तका भावनामय स्वरूप ही उसका चिन्मय देह है। दूसरे शब्दोंमें ईश्वर ही भक्तका चिन्मय देह है। भक्त कदापि इस पांचभौतिक देहके बन्धनमें नहीं है। जिस पर भगवत्कृपा हो उसका ऐसा भक्त होना अनिवार्य है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उस भगवत्कृपारूपी मुख्य साधनको ही सिद्ध करना चाहिये, उसे ही सिद्ध करना चाहिये।

भाव—स्वरूपस्थितिरूपी भावनामय चिन्मय देहको अपनाकर, विदेह स्थितिरूपी भक्तिको ही प्राप्त करना चाहिये। विदेहस्थितिके रूपमें प्रकट होनेवाली भक्ति ही 'भगवत्कृपा' है।

दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ—विषयासक्तिका सर्वथा त्याग किया जाना चाहिये।

भाव—विषयासक्तिको सब समय त्यागके काममें लाते रहना चाहिये। जब मनुष्य भगवत्कृपारूपी भावनामय स्वरूपको अपनाता है, तब विषयासक्ति त्याज्य बने बिना नहीं रहती।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाश-कारणत्वात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—विषयासक्तिके परिणाम काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश (आत्म-

विस्मृति), बुद्धिनाश (विवेकबुद्धिका विनाश अर्थात् अवैराग्य), सर्वनाश (विषयभोगेच्छाकी आज्ञा मान लेनेपर विषयोंके पीछे दौड़ लगानेके रूपमें कल्याणका नाश) होते हैं; इस लिये विषयासक्ति त्याज्य है ।

भाव—क्योंकि भक्तका मन भावनारूपी अखण्ड आत्मस्मृतिकी अवस्थामें रहता है, इस लिये उसके जीवनमें विषयासक्ति त्याज्य बन जाती है ।

तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

अर्थ—(इन्द्रियोंके साथ विषयोंका स्पर्श होनेपर उत्पन्न हुए) काम क्रोध आदि चाहे छोटेसे तरंगके रूपमें ही उद्भूत क्यों न हों, ये विषयासक्तिका सहारा पाकर (मनुष्यको डुबानेवाले) समुद्र बन जाते हैं ।

भाव—जब काम क्रोध आदि तरंगको विषयासक्तिका सहारा मिल जाता है, तब ये तरंग मनको आत्मविमुख करके उसे अनन्त विस्तारवाला कामनासागर बनाकर उसमें मनुष्यको डुबो देते हैं ।

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः संगांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—बताओ कि इस (भोगासक्तिमयी) मायाको कौन तरता है ? इस मायाको कौन तरता है । (**उत्तर**)—जो भोगासक्तिको त्यागता है, जो सत्संग करता है, और जो अनित्य विषयोंमें ममता करना छोडता है ।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो जनबन्धनहीन मनोदशाको अपनाता है, जो संसारके आसक्तिरूपी बन्धनको छिन्नभिन्न करता है, जो तीनों गुणोंसे अतीत बनता है, जो विषयसंग्रह तथा विषयरक्षाकी भावनाको त्याग चुका है । (वह मायाको तरता है यह पचासवें सूत्रमें) ।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो कर्मकी फलाकांक्षाको त्यागता है, जो कर्मोंमें कर्तृत्वको त्यागता

है, और इन त्यागोंको करके वैषयिक शुभाशुभमें उदासीन रहता है। (वह मायाको तरता है, यह पचासवें सूत्रमें)

वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥

अर्थ—जिसकी सर्वप्रकारकी ज्ञानेच्छाओंका अन्त होकर जो स्वयं ज्ञान-स्वरूप हो जाता है, जिसका केवल अद्वितीय आत्मतत्त्वमें ही अनुराग रह जाता है। (वह मायाको तरता है, यह पचासवें सूत्रमें)

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

अर्थ—वही मायाको तरता है, वही मायाको तरता है और जगत्को तारता है।

भाव—वह मायाको तरता है और इस संसारसे मायासंतरणका काम लेकर अपने भक्तजीवनको धारण करता है। भक्त इस जगत्को मायासे बचानेके लिये अपने भक्तजीवनको धारण किये रहनेके अतिरिक्त और कोई काम नहीं करता। वह जगत्का त्राणकरनेके कामको अपने भक्त-जीवनकी सीमासे बाहर नहीं निकलने देता। अर्थात् उसका भक्तजीवन धारण करना ही जगत्का मायासे त्राण करना है। क्योंकि वह भक्त-जीवनको धारण कर रहा है, इसीसे जगत्को मायासे त्राण मिल रहा है। यदि किसी एक ही शरीरमें मायाका परिहार हो रहा है तो बस उसीसे जगत्भरका मायासे परित्राण हो रहा है। एक शरीरके मायापरिहारसे ही इस समस्त जगत्की रचना सार्थक हो जाती है। ऐसे भक्तका जीवन संसारको मायातीत स्थिति दिखानेका कारण हो जाता है। ईश्वर, भक्तोंके जीवनको प्रदर्शनीके रूपमें संसारमें रखते हैं और रखकर संसारको भक्तिका पाठ पढानेका प्रबन्ध रच लेते हैं। भक्त उपदेश नहीं करते फिरते। भक्तोंका जीवन ही मूर्तिमान उपदेश है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—भक्तका आत्मप्रेम वचनातीत होता है।

भाव—भक्तका आत्मप्रेम भावगम्य होता है। उसे भाषा नहीं पकड सकती। भाव ही उसे पकड सकता है।

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

अर्थ—गूंगेके स्वाद लेनेकी भांति है।

भाव—आत्मप्रेम गूंगेके स्वाद लेनेकी भांति वचनातीत और भावगम्य अवस्था है।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

अर्थ—किसी किसी पात्रमें प्रकाशित होता है।

भाव—वह भावगम्य वचनातीत आत्मप्रेम, किसी किसी आधारमें अर्थात् भक्तोंके जीवनोंमें उनके व्यावहारिक जीवनके रूपमें प्रगट होता है। भक्तोंका जीवनव्यवहार भोगासक्त जगत्के प्रवाहसे विपरीत मार्गपर चलनेवाला होता है। भक्तिप्रवाह बहानेवाले भक्तजीवन विरले होते हैं।

गुणरहितं कामनावर्जितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—त्रिगुणातीत, निष्काम, कभी कम न होनेवाले, अखण्ड, इन्द्रियातीत और अनुभवरूप प्रेमका ऐसा अनिर्वचनीय स्वरूप है।

भाव—भक्तका आत्मप्रेम त्रिगुणबन्धनसे अतीत (अर्थात् भोगासक्तिसे रहित) होता है, कर्मफलकी आकांक्षासे भी रहित होता है, सदा ह्रासरहित परिपूर्ण स्थितिमें रहनेवाला होता है। उसका कभी विच्छेद नहीं होता। वह स्थूलविषयोंसे मिलनेवाला नहीं होता। वह आत्मतत्त्वके संभोगरूपी अनुभवके रूपमें नित्यप्रज्वलित रहनेवाला होता है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

अर्थ—उसे पानेवाले भक्तको वही दीखता है, वही सुनाई पडता है, वही बातचीतका विषय होता है, और उसे उसीकी चिन्तामें डूबे रहना पडता है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद् वा ॥ ५६ ॥

अर्थ—अमुख्य भक्ति तीन प्रकारकी कही गई है। गुण तथा आर्त आदि भेदोंसे।

भाव—इससे प्रथम भक्तिका मुख्य स्वरूप बताया जा चुका। उससे भिन्न जो कुछ है सब गौण है। वह भक्ति नामसे कहे जानेपर भी अभक्ति है। वह सब भक्तिका दिखावा है। गुणभेदसे (अर्थात् सत्त्व, रज, तम नामकी विषयासक्तिके भेदसे) तथा आर्त आदि भेदसे (अर्थात् आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी इन सब प्रकारके भेदोंवाली) जो भक्ति संसारमें प्रचलित है वह सच्ची भक्ति नहीं है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात् पूर्वपूर्वा श्रेयसे भवति ॥ ५७ ॥

अर्थ—उत्तर उत्तरसे पूर्व पूर्व भक्ति कल्याणार्थ समझी जाती है।

भाव—अर्थार्थीसे जिज्ञासु तथा जिज्ञासुसे आर्त अच्छे समझे जाते हैं परन्तु ये गौणभक्त भक्त कहलानेके ही योग्य नहीं होते। क्योंकि ये मुख्य भक्तिसे (अर्थात् कामनातीत तथा त्रिगुणातीत स्थितिसे) बाहर रहते हैं। ये कामनासक्त तथा गुणबन्धनमें आबद्ध रहते हैं।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

अर्थ—भक्तिमें भक्तिविरोधिनी स्थितिसे सुलभता है।

भाव—भक्ति अभक्तिसे (अर्थात् विषयभक्तिसे) सुलभ है। विषयासक्ति की अवस्थामें भोगोंसे अतृप्ति बनी रहती है। क्योंकि भोग और अतृप्तिका नित्य साथ है। निर्विषय आत्मतत्त्वका संभोग करनेकी अवस्थामें पूर्ण परितृप्तिकी अवस्था बनी रहती है। मनुष्यका स्वभाव ही भक्तिकी सहायता करता है। स्वभावको विषयासक्तिके विकार सहन नहीं होते। विषयासक्ति स्वभावका विरोधी होनेके कारण दुर्लभ (अर्थात् दुःखलभ्या) है। इसी कारणसे भक्ति ही मनुष्यको कल्याणका दान करनेमें समर्थ है। अभक्तिको विपत्तियोंका बुलावा कहना चाहिये।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

अर्थ—भक्तिमें दूसरे किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि भक्ति स्वयं ही प्रमाणस्वरूप है।

भाव—भक्तिकी पूर्णपरितृप्ति देनेवाली महिमाको सिद्ध करनेके लिये भक्तिसे भिन्न दूसरा कोई भी प्रमाण समर्थ नहीं हो सकता। जब कि विषयोंको त्यागना ही भक्तिका स्वरूप है, तब भक्ति ही भक्तिकी सफलता या निष्फलताको सिद्ध कर सकती है। क्योंकि भक्ति करनेसे कोई इन्द्रियग्राह्य पदार्थ प्राप्त नहीं होता, इस लिये भक्तिकी सफलता या निष्फलता किसी इन्द्रियग्राह्य पदार्थकी प्राप्ति या अप्राप्तिसे प्रमाणित नहीं होती।

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

अर्थ—भक्ति स्वयं ही शान्ति है और परमानन्द स्वरूप है; इस लिये भी भक्तिका सुलभ होना स्वयंसिद्ध है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥६१॥

अर्थ—भक्तिमें लोकहानिकी चिन्ता नहीं करनी पडती। क्योंकि उसमें अपना समझा हुआ संसार तथा वेद, आत्मामें निवेदित हो चुकते हैं।

भाव—संसारसे भोगका संबन्ध तोडदेनेकी अवस्था 'भक्ति' कहाती है। संसारसे भोगका संबन्ध टूट जाना, हानि या चिन्ताकी बात नहीं है। यह तो मनुष्यका परम सौभाग्य है। जब शरीर और उससे संपन्न होनेवाले लौकिक वैदिक व्यापार आत्मतत्त्वमें समर्पित हो जाते हैं, जब संसारमें 'अपना' नामका कोई भी पदार्थ नहीं रहता, तब अपने पदार्थका विच्छेद होनेका भय भी स्वभावसे ही लुप्त हो जाता है। समर्पणकी ऐसी निश्चिन्त और निर्भयस्थिति या आत्मन्यासको ही 'भक्ति' कहा जाता है।

न तत्सिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्त त्साधनं च कार्यमेव ॥ ६२ ॥

अर्थ—उस भक्तिकी सिद्धि (प्राप्तावस्था) आजानेपर लोकव्यवहारको छोडना नहीं पडता। किन्तु (तबभी) फलत्यागरूपी साधनको करते ही रहना पड़ता है। यही सिद्धावस्था है।

भाव—आत्मन्यास नामकी भक्तिको पानेके लिये या पानेपर लोकव्यवहार त्यागनेकी आवश्यकता नहीं पडती। क्योंकि लौकिक व्यवहारोंमें ही आत्मन्यास नामकी स्थितिका दर्शन होना संभव है, अव्यवहारावस्थामें नहीं। लौकिक व्यवहार ही आत्मन्यास नामकी भक्तिकी स्थितिको प्रकट होनेका अवसर देता है। जो लौकिक व्यवहारोंकी उपेक्षा करता है, उसकी इस भूलसे उसकी आत्मस्थिति भी उसके हाथसे निकल जाती है। इस लिये मनुष्यको चाहिये कि लौकिक व्यवहारोंमें फलाकांक्षाके त्यागरूपी भक्तिके साधनको स्वभावसे चलाता रहे। लौकिक व्यवहारोंमें फलाकांक्षात्यागका कौशल दिखाते रहना भक्तिके लिये अनिवार्य स्थिति है। अर्थात् व्यवहार भी हो और उन व्यवहारोंमें फलाकांक्षाका त्याग भी हो तब भक्ति होती हुई मानी जा सकती है।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी इनके चरित्रोंको सुननेमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

भाव—विषयभोगासक्तिमें फंसानेवाली भावनाको लेकर स्त्रीचरित्र, धनप्रसंग, विषयासक्त आत्मविमुख पुरुषोंकी जीवनचर्या, तथा अपनेप्रति शत्रुता करनेवालेकी चर्चा सुननेके लिये अपनी श्रवणेन्द्रियको भगवद्विमुख नहीं होने देना चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—आत्मासे भिन्न वस्तुमें अहंकार तथा दम्भ आदिका सर्वथा परित्याग रहना चाहिये।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—अपने सब कर्मोंके कर्तापनको उस आत्मतत्त्वके कर्तापनमें समर्पित करके उसीमें अनन्यप्रेम, उसीके विच्छेदमें असहिष्णुता, और उसीमें अहंकार आदि करलेना चाहिये।

त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—तीनों रूपोंको एक बनाकर, नित्यदास अथवा नित्यकान्ताभावना वाला प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

भाव—भक्त, भगवान् और भक्तिकेलिये किये गये कर्म, इन तीनोंके भेदोंको मिटाकर (अर्थात् इन तीनोंको एक दूसरेसे पृथक् न समझकर), इन तीनोंके सम्मिलित रूपवाली भागवती स्थितिमें ही निरन्तर अवस्थान करना चाहिये। उस भागवती स्थितिका स्वरूप यही है कि "हम आत्मतत्त्वमें समर्पण करनेवाले हैं। हम आत्मतत्त्वके अनन्य प्रेमी हैं। हम आत्मतत्त्वकी 'नित्यकान्ता' (अर्थात् पत्नी) हैं (अर्थात् हम आत्मतत्त्वमें आत्मसमर्पण करनेवाले हैं)। हम आत्मतत्त्वके कर्तापनसे आत्माकी ही इच्छाको पूरा करनेवाले 'नित्यदास' हैं। हमारा और उस आत्माका अद्वैत है। उसके साथ हमारी कान्ता या दासकी स्थिति कभी नहीं छूटती। हम किसी चिन्तन या किसी कर्मको करते समय ऐसी किसी सत्ताको नहीं अपनाते जो कि उनसे पृथक् हो। ऐसी इस नित्यदास तथा नित्यकान्तावाली स्थितिको अपनाते हुए उसीमें प्रेम बनाये रहना हमारा एकमात्र काम है"।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

अर्थ—भगवान्के साथ एकात्मभावको प्राप्त हुए भक्त ही भक्त हैं।

भाव—भगवान्के साथ अपनी अभेदात्मक या अद्वैतस्थितिको कमा-लेनेवाले भक्त ही मुख्य भक्त हैं। भक्तके साथ भगवान्की अभेदात्मक स्थिति ही 'मुख्य भक्ति' कहाती है।

कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८ ॥

अर्थ—भक्त इस अद्वैत प्रेमसे विह्वल होकर, आनन्दाश्रु, आनन्दपुलक और कण्ठावरोध, इन सब दिव्य अभिव्यक्तियोंके द्वारा, एक दूसरेके साथ भगवत्कीर्तन करते हुए, भक्तोंके समाजको अलंकृत करते रहते हैं और सारे संसारको पवित्र कर देते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

अर्थ—भक्त जहां है, वहीं 'तीर्थ' है; भक्त जो कर रहा है, वही 'सुकर्म' है; भक्त जो कह रहा है, वही 'सच्छास्त्र' है।

तन्मयाः ॥ ७० ॥

अर्थ—भगवत्स्वरूप होनेसे ॥

भाव—क्योंकि भक्त लोग आत्मतत्त्वरूपी स्वस्वरूपमें तल्लीन हुए रहते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ ७१ ॥

अर्थ—भक्तके पितर (पालन करनेवाले प्राण) आनन्दित होते हैं, इन्द्रियां नाचती हैं (तृप्त होती हैं) और भक्तदेहको बनानेवाले पांच भूत सनाथ हो जाते हैं (भक्तजीवन आनन्दकी पराकाष्ठा है)।

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादिभेदः ॥७२॥

अर्थ—भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, तथा क्रिया आदिका भेद नहीं है।

भाव—भक्तोंकी कोई जाति नहीं होती। सबके सब भक्त भक्तनामकी एक ही जातिके सदस्य होते हैं। किन्हीं विशेष पुस्तकोंकी पृथक् पृथक् विद्या भक्तोंमें भेद नहीं डाल सकती। भगवान्को जानना ही वह 'विद्या' है, जिसे पाकर सब भक्त एक कोटिके विद्वान् हो जाते हैं। सब भक्त भगवद्रूप होजानेके कारण भागवत रूपसे रूप-

वान् बने रहते हैं। सबके सब भक्त एक ही कुलके होते हैं। भक्ति ही भक्तोंको भक्त कुलका सदस्य बनानेवाला बन्धन है। जो कोई भक्तिके समाजबन्धनसे आबद्ध हो जाता है, वही भक्त-कुलका सदस्य बन जाता है। आत्मरतिरूपी धनपर सब भक्तोंका एक समान आधिपत्य हो जाता है। सब भक्त सब प्रकारके कर्म करते समय, कर्ताहंबुद्धिको त्यागे रहते हैं, इसीलिये उनकी क्रियाओंमें भेद नहीं होता।

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—क्योंकि सबके सब भक्त भगवान्‌के ही हैं।

भाव—सबके सब भक्त एक आत्मतत्त्वके ही अधिकारमें रहते हैं।

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—वादमें नहीं पडना चाहिये।

भाव—यदि भक्तोंकी अभेद स्थितिको समझ लिया जाय तो सर्व प्रकारके विवादोंका अवसर स्वयमेव लुप्त हो जाता है।

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥ ७५ ॥

अर्थ—भक्तोंका विवादमें भागलेना असंभव घटना है। क्योंकि सत्यसे बाहर जानेसे (सत्यहीन होनेसे) ही व्यर्थवादरूपी भ्रान्ति होती है। आत्मतत्त्वके शासनको भूलजानेपर मनुष्यका अनियत (असंयत) होना अवश्यंभावी है।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

अर्थ—भक्तिशास्त्रोंका मनन करना चाहिये और भक्त्युद्बोधक कर्म करते रहना चाहिये।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—सुखदुःख, इच्छा, लाभ आदिसे रहित (कोई स्थिति किसी अज्ञात भविष्यत्‌में मिलेगी ऐसे), अनुकूल समझे हुए किसी कालकी प्रतीक्षामें आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

भाव—भक्ति करते करते भक्तिके परिणामके रूपमें भक्तिके स्थानपर (भक्तिके अतिरिक्त) सुदूर भविष्यमें जाकर एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो जायगी,

कि जिसमें न सुखदुःख होगा, न इच्छा होगी, न लाभ अलाभका प्रश्न होगा, इस प्रकारकी अनिश्चित आशामें अपना क्षणमात्र भी नहीं बीतने देना चाहिये। भक्तको तो वर्तमान क्षणमें ही सुखदुःख, इच्छा, लाभ, अलाभ आदिकी विद्यमानतामें ही, इनसे रहित स्थिति-पर अधिकार जमा लेना चाहिये। भक्तिके इन द्वन्द्वरूपी विरोधकी उपस्थितिमें ही उन विरोधकी सफल उपेक्षा करनेवाली स्थितिको पाचुकना 'भक्ति' है। इससे भिन्न भक्ति और कुछ नहीं है।

अहिंसा-सत्य-शौच-दया-ऽऽस्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

अर्थ—अहिंसा (मनकी रिपुओंपर विजयी बने रहनेकी स्थिति), सत्य (मनकी अप्रभावित स्थिति), शौच (शुद्ध मनकी शुद्धताकी रक्षाके लिये बाह्य आचरण), दया (सर्वभूतोंमें आत्मदर्शन) तथा आस्तिक्य (आत्मारूढ स्थितिकी रक्षारूपी स्वधर्म) का भली भांति पालन करते रहना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

अर्थ—सदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर भगवान्का ही भजन करना चाहिये।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ ८० ॥

अर्थ—भगवान् कीर्तित होनेपर (मनन किये जानेपर) जीवनमें तत्क्षण प्रकट हो जाता है और अनुभवकी वस्तु बन जाता है।

भाव—जब सर्व भावसे आत्माका भजन किया जाता है, तब वह जीवनमें तत्क्षण प्रकट होता है। वह प्रकट होकर भक्तोंको अपने अनुभवका आनन्द देकर उन्हें आनन्दमग्न रखता है।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

अर्थ—मन, वचन, कर्मके सत्यका आधार भक्ति है। भक्तिके विना इन तीनोंमें सत्यका आना असंभव है।

भाव—मन, वचन, कर्ममें सत्यका पालन तब ही किया जासकता है, जब कि मनमें भक्तिका बास हो।

गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्या-

त्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

अर्थ—भक्ति एक ही है, परन्तु भक्तोंके बाह्य आचरणोंमें उसके ग्यारह रूप प्रकट होते पाये जाते हैं।

(१) **गुणमाहात्म्यासक्ति** = आत्मतत्त्वको ही इस त्रिगुणात्मक सृष्टिका स्वरूप पहचानकर उसीमें आसक्ति करना। गुणोंकी (प्रकृतिकी) ईश्वरसे अभिन्न सत्ता जानकर, उस प्रकृतिका जो माहात्म्य (प्रकृतिमें अलिप्त रहनेवाला आत्मतत्त्व) है उसी (आत्मतत्त्व) में आसक्त होना और प्रकृतिमें अनासक्त रहना ही 'भक्ति' है। गुणोंका यही माहात्म्य है की उनका स्वरूप आत्मा है।

(२) **रूपासक्ति** = आत्मतत्त्वके इन्द्रियातीत भावनामय रूपमें आसक्ति।

(३) **पूजासक्ति** = आत्मतत्त्वके अनन्यसेवनमें आसक्ति।

(४) **स्मरणासक्ति** = आत्मतत्त्वके अनन्यचिन्तनमें आसक्ति।

(५) **दास्यासक्ति** = आत्मतत्त्वके कर्तापनमें आत्मसमर्पणकी भावनामें आसक्ति।

(६) **सख्यासक्ति** = आत्मतत्त्वके साथ सखा भाव रखनेमें आसक्ति अर्थात् किसी अनात्म पदार्थसे सख्य न जोडना।

(७) **कान्तासक्ति** = आत्मतत्त्वमें पतिभाव (प्रेमभाव) रखनेमें आसक्ति।

(८) **वात्सल्यासक्ति** = आत्मतत्त्वमें सन्तानभाव रखनेमें आसक्ति।

(९) **आत्मनिवेदनासक्ति** = आत्मतत्त्वमें आत्मसमर्पण करचुके होनेमें आसक्ति।

(१०) **तन्मयतासक्ति** = आत्मतत्त्वसे अपनी अभिन्न सत्ताका अनुभव लेनेमें आसक्ति।

(११) **परमविरहासक्ति** = आत्मतत्त्वकी विस्मृतिमें तीव्र असहिष्णुतामें आसक्ति।

भाव—आत्मतत्त्वके अतिरिक्त किसी भौतिक देहके साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य, आदि सर्व प्रकारके भौतिक संबन्धका स्वीकार न

रहना ही 'भक्ति' है। मनको संपूर्ण रूपसे केवल आत्मतत्वमें आसक्त करडालना ही अनासक्ति रूपी 'भक्ति' है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भयाः एकमताः कुमार व्यास शुक शाण्डिल्य गर्ग विष्णु कौण्डिन्य शेषोद्धवारुणि बालि हनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३ ॥

अर्थ—संपूर्ण विषयी संसारकी बातोंका विरोध करनेवाले सनत्कुमार, व्यासदेव, शुकदेव, शाण्डिल्यमुनि, गर्गाचार्य, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, बिभीषण आदि भक्तिके आचार्योंने भक्तिका यह स्वरूप बताया है।

इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते, स प्रेष्ठं लभते ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो इस नारदोक्त कल्याणकारी अनुशासनपर विश्वास लाता है श्रद्धा करता है, वह सर्वाधिक प्रियतत्त्वको पालेता है; वह सर्वाधिक प्रियतत्त्व को पालेता है।

भाव—सूत्रकार बलपूर्वक कह रहे हैं कि इस प्रकार अनासक्ति रूपी भक्तिको अपनानेवाला इस जगत्के आधार सर्वश्रेष्ठ तत्त्व आत्माको अपनाकर; सबसे प्रिय स्वरूप-सुखको भोगता हुआ विषयबंधनसे मुक्त बना रहता है।

नारदभक्तिसूत्र समाप्त ॥